प्रकाशक
पब्लिकेशन लीग,
लखनऊ

मुद्रक
लेखराम वर्मा, एडवोकेट,
रिसीवर

पाठक वृन्द!

इस अमूल्य पुस्तक की दूसरी आवृत्ति लीग को ऐसी समय पर प्रकाशित करना पड़ी जब क़ाग़ज़ का बड़ा अभाव है और छपाई का रेट भी बहुत ज़्यादा चढ़ाहुवा है।

अस्तु लीग को विवशहोकर एकही संस्करण निकालना पड़ा और मूल्य २) रखना पड़ा।

जैसा पहली बार कहा गया था। आत्मदर्शीजी कीतीसरी पुस्तक रिसाला अजायबुलइल्म भी छापकर आपकी सेवा में भेंट होचुकी हैं।

अब चौथी पुस्तक जगजीतप्रज्ञा भी छपने का प्रबन्ध कियाजा रहा है।

मई १६४७

रामेश्वरसहाय सिंह
मंत्री

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग

स्थापित १६१६

उद्देश्य

[१] विशेषतः ब्रह्मलीन श्रीस्वामी रामतीर्थजी के लेखों, व्याख्यानों तथा जीवन चरित्र को और

[२] सामान्यतः उनके उपदेशों के अनुकूल अन्य ग्रन्थों को भिन्न-भिन्न भाषाओं में उत्तम शैली और मनोहर रूप में विषयों की विशुद्धता और मौलिकता की संरक्षा करते हुए प्रकाशित करना और उन्हें यथासम्भव सस्ते मूल्य पर बेंचना।

नियम

श्रीस्वामीरामतीर्थजी के उपदेशों के अनुयायी और उनसे सहानुभूति रखनेवाले सज्जन इस लीग के संरक्षक, सदस्य और संसर्गी के रूप से सभासद होंगे।

१०००) रु० एकबारगी अथवा अधिक से अधिक दस किश्तों में दान देनेवाले सज्जन पूरी रक़म जमा कर देने पर लीग के संरक्षक हो सकेंगे।

२००) रु० एकबारगी अथवा अधिक से अधिक आठ किश्तों में दान देनेवाले सज्जन पूरी रक़म अदा कर देने पर लीग के सदस्य हो सकेंगे।

२५) रु० एकबारगी अथवा अधिक से अधिक पाँच किश्तों में दान देनेवाले सज्जन इस लीग के संसर्गी हो सकेंगे।

उक्त सभासदों को लीग उनके दान की रक़म पर वार्षिक ५) रु० प्रति सैकड़ा के हिसाब से लीग की प्रकाशित पुस्तकें बिना मूल्य पाने का आजीवन अधिकार देती है।

पूरी नियमावली मँगाकर देखिये।

निवेदन

ईश्वर की अपार कृपा से आज हम इस योग्य हुए कि उर्दू भाषा की पुस्तक मियारुल-मुकाशफ़ा का हिन्दी भाषा-अनुवाद आपकी सेवा में उपस्थित कर सके। यह पुस्तक भी इससे पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'श्रीवेदानुवचन' के समान परम उपयोगी और लाभदायक है। ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज को उक्त श्रीवेदानुवचन के समान यह पुस्तक भी अति प्यारी थी और उनके आत्मसाक्षात्कार में सहायक हुई थी। इसके भी लेखक श्रीबाबा नगीनासिंह वेदी आत्मदर्शी हैं। इस पुस्तक में छान्दोग्योपनिषद् के छठे प्रपाठक का अनुवाद सहित सविस्तार व्याख्या के है। इस प्रपाठक के अध्ययन से जिस प्रकार बाबा साहब को आत्मसाक्षात्कार हुआ, वह उन्होंने अपनी जीवनी में, जो इस पुस्तक की भूमिका में दी गई है, लिख डाला है।

यह परम उपयोगी अनुवाद, अति क्लिष्ट उर्दू भाषा में होने से साधारण उर्दू वेताओं के लिए समझने में कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव सा है। ऐसी दशा में हिन्दी भाषा के पाठक तो समझ ही क्या सकते थे। इसलिये कई वर्षों से विचार हो रहा था कि इस उर्दू-अनुवाद को सरल हिन्दी भाषा में करके ग्रन्थ को सर्वोपयोगी बनाया जाय जिससे प्राणिमात्र, जो हिन्दी भाषा को लिख-पढ़ सकते हैं, इस के द्वारा ब्रह्मज्ञान रूपी अमृत को सुगमता से पान कर सकें, और अमर पद को सहज ही प्राप्त हो सकें।

हमें अवश्य शोक है कि परिश्रम करने पर भी हम इस कार्य की पूर्ति में वैसे सफल नहीं हुए जैसा कि हम चाहते थे। पर न होने से कुछ होना प्रायः उत्तम होता है। अमृत का एक बूंद भी प्राप्णीय है, इसलिये आशा है कि हिन्दी के पाठक-

गण उन त्रुटियों को, कि जो उनकी दृष्टि में पड़ें, ध्यान में न लायेंगे, बल्कि पुस्तक के सार को ग्रहण करके इससे भरसक लाभ उठायगे।

हमको विश्वास है कि यदि हिन्दी के पाठकों ने पुस्तक को अपनाकर हमारा साहस बढ़ाया, तो शीघ्र ही दूसरी आवृत्ति में हम अवश्य इसको आपकी सेवा में इससे भी अधिक उत्तम रूप मे भेट कर सकेंगे।

इस अति कठिन कार्य का भार श्रीमान् नारायण स्वामी जी ने ही उठाया है। उन्होंने ही इस हिन्दी अनुवाद को संशोधन करके इसे यह रूप दिया है। उनकी सहायता के विना हमें इन गूढ़ विषयों को ऐसी सरल और समझने योग्य भाषा में देखना अति दुर्लभ था। यदि इसी प्रकार उनकी सहायता बनी रही और पब्लिक के अन्य कार्यों से उनको अवकाश मिलता रहा, तो हमें आशा है कि इन्हीं लेखक (बाबा नगीना-सिंह) की तीसरी पुस्तक (रिसाला अजायबुल-इल्म) का हिन्दी अनुवाद भी शीघ्र ही हम जनता के हाथ तक पहुँचा सकेंगे।

अन्त में परब्रह्म परमात्मा से प्रार्थना है कि जो भी कोई प्रेम और श्रद्धा से इस पुस्तक का पाठ वा अध्ययन करे, उसे ब्रह्म साक्षात्कार का फल प्रदान हो। तथास्तु।

निवेदक—

लखनऊ — मन्त्री

मार्च १९२७ — श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग

❀ ॐ ❀

भूमिका

(१) जान लो कि इस मिचारु-उल-मुकाशफा (आत्मसाक्षात्कार की कसौटी) के प्रथम भाग में सामवेद के छान्दोग्योपनिषद् का खुलासा (संक्षेप) किया जाता है। जिस प्रकार आँख से दिखाई देने वाले पदार्थों के देखने का उत्तम यंत्र आँख है, उसी प्रकार वेद का उपनिषद् भाग आत्म-साक्षात्कार का उत्तम साधन है। जैसे दृश्य पदार्थ बिना आँखों के दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार बिना उपनिषद्-भाग की सहायता के दर्शन या आत्मसाक्षात्कार भी नहीं होता। यही कारण है कि श्रुति-भगवती आत्मसाक्षात्कार के लिये उपनिषद् को ही प्रामाण्य निश्चित करती है। "तंत्वौपनिषदं ब्रह्म पृच्छामि" अर्थात् "मैं उस ब्रह्म को पूछता हूँ जो केवल उपनिषदों के द्वारा ही ज्ञात होता है। बिना उपनिषदों की सहायता के वह किसी भी हेतु से ज्ञात नहीं होता। इससे ज्ञात हुआ कि उपनिषद् ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये वास्तव में नेत्र के स्थान पर है।

(२) यह मियारुल-मुकाशफा (आत्मसाक्षात्कार की कसौटी) ग्रन्थ उपनिषद्-भाग का शुद्ध अनुवाद है, इसलिये भाषा जानने वालों के लिये ब्रह्म-दर्शन का उत्तम साधन है। यह स्पष्ट है कि यदि हमारे नेत्र ठीक हों, तो वे दृश्य पदार्थों का स्वरूप यथावत् दिखा सकते है, और यदि नेत्र ठीक न हों तो उल्लू की भाँति सूर्य में भी अन्धकार ही दिखाते हैं। इससे पहले कुछ लोगों ने जो उपनिषदों का अनुवाद किया है, वह शुद्ध

नहीं है, इसलिये वह अनुवाद उनके उलूक-नयनों के समान है, और यह अनुवाद बहुत शुद्धता से किया गया है, इसलिये यह ठीक नेत्रों के समान है। जो पाठकगण इसका पारायण वा दत्त चित्त से अध्ययन करेंगे, एक बार अवश्य उन्हें आत्म ज्योति दिखाई देगी।

استغراق تام از جہت سامع است قوت سمع از متکلم مجو

अर्थात् किसी तत्त्व में पूर्ण लीनता तो श्रोता के निज प्रयत्न पर निर्भर है, वक्ता से सुनने की शक्ति मत ढूँढ।

(३) यदि किसी व्यक्ति को इस अनुवाद के अध्ययन से भी आत्म-साक्षात्कार न हो, तो इस अनुवाद का दोष नहीं किन्तु श्रोता के अन्तःकरण का दोष समझना चाहिए, क्योंकि बहुधा नेत्र अच्छे भले होते है, किन्तु रात्रि के अन्धकार के कारण रस्सी में साँप दिखाई देता है, वैसे ही यदि श्रोता के अन्तःकरण पर पापों का अन्धकारमय आवरण है, तो फिर शुद्ध अनुवाद भी क्या कर सकता है, वरन् उसके लिये तो वेद का वह भाग, जिसे कर्मकाण्ड कहते हैं, मोरचा छुड़ाने का अर्थात् अन्तःकरणरूपी दर्पण को शुद्ध करने का यन्त्र है।

इस लिये जिज्ञासु को चाहिए कि पहले वेद के कर्मकाण्ड भाग से जप तप आदि कर्म और उपासना द्वारा अन्तःकरण को भलीभाँति शुद्ध और एकाग्र कर ले। जब अन्तःकरण शुद्ध और एकाग्र हो जाय, तो वेद के ज्ञानकाँड अर्थात् उपनिषद्-भाग का अध्ययन करे जिसका कि यह शुद्ध अनुवाद किया गया है, और जो आत्म-साक्षात्कार कराने के यन्त्र के समान है।

(४) जिस व्यक्ति को इस ग्रन्थ के द्वारा आत्म-साक्षात्कार न हो, उसको साहस न त्यागना चाहिए, वरन उसको वेद और शास्त्र के अनुसार कर्म और उपासना करना चाहिए और इस ग्रन्थ को

सदैव देखते रहना चाहिए। यदि ईश्वर की कृपा हुई, तो इससे आत्मसाक्षात्कार अवश्य होगा। क्योंकि साधक का प्रथम पग तपश्चर्या और इन्द्रिय-दमन है, उसके बाद ज्ञान। इसीलिये वेदान्त शास्त्र ने ज्ञान का अधिकारी शम-दम आदि साधनों से सम्पन्न व्यक्ति को लिखा है।

(५) यह भ्रम न करना चाहिए कि इस कलियुग में वैदिक कर्मकाण्ड का पूरा-पूरा पालन नहीं हो सकता, इसलिये इस ग्रन्थ के अध्ययन का कोई अधिकारी नहीं। इस भ्रम का कारण पुरुषार्थ-हीनता है। कर्मों से केवल अन्तर की मलिनता दूर होती है और बुद्धि निर्मल हो जाती है। जो व्यक्ति साधन सम्पन्न है अर्थात् विवेकी और सदाचारी है, और जिसकी बुद्धि निर्मल तथा सौम्य है, वह वास्तव में जन्म-जन्मान्तर में कर्म और उपासना को पूर्ण रूप से कर चुका है। यदि उसने ऐसा न किया होता, तो इस जन्म में सौम्य स्वभाव, करुणा और आत्मतत्व की प्रबल जिज्ञासा को किस प्रकार प्राप्त करता। इस युक्ति से सिद्ध होता है कि जन्म जन्मान्तर में वह कर्म-काण्ड और उपासना काण्ड की अवस्था को पार कर चुका है, जिसके फल में उसे सौम्यता, विवेक और जिज्ञासा आदि प्राप्त हुई हैं। उसको अब इस जन्म में केवल इस ग्रन्थ के अध्ययन मात्र की आवश्यकता है, उसका अज्ञान का आवरण इसी जन्म में उड़ जायगा और वह मुक्त हो जायगा।

(६) वेदशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि यद्यपि अन्तर्मलीनता और इन्द्रियों की दुष्टता या प्रबलता ब्रह्मज्ञान में बाधक है किन्तु जिस व्यक्ति को पूर्व जन्मकृत पुण्य द्वारा विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षत्व प्राप्त है, ऐसा साधन-सम्पन्न पुरुष वेदान्त-शास्त्र के श्रवण से आत्म साक्षात्कार कर सकता है। और उसमें अनादि अज्ञानकृत आवरण उसी प्रकार से है जैसा कि

पानी में आग का जलना यद्यपि कठिन है, तो भी कपूर के द्वारा पानी में आग जलती है। अतः उत्कट जिज्ञासा आत्म-साक्षात्कार के लिये विना तपश्चर्या के भी कपूर के सदृश है। इसी कारण कुछ तत्त्ववेताओं ने उत्कट जिज्ञासा के विषयमें लिखा है—

العشق نارا يحرق ماسوي الله

अर्थात् इश्क़ (उत्कट जिज्ञासा) एक ऐसी अग्नि है जो अनात्म भाव को जिज्ञासु के अन्तःकरण से जला देती है। इश्क़ को संस्कृत में वैराग्य बोला करते हैं। वैराग्य का तत्त्व यही है कि शरीर, इन्द्रिय, और लोक-परलोक के भोगों से उपराम हो जाय, एक मात्र आत्म-साक्षात्कार की अभिलाषा हो। देखो ईश्वर के स्मरण मात्र से जन्म जन्मान्तर के पाप दूर हो जाते है, ऐसा पुराण और स्मृतियाँ पुकारती है। जब उसके दर्शन की तीव्र लगन उत्पन्न हो, और उसके साक्षात्कार के आनन्द की जिज्ञासा फड़क जावे, तो समस्त पाप-ताप और अन्तर्मलीनता बारूद की तरह उड़ जाते हैं। इसलिये आत्मानुभाव के अभिलाषी को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि मैं ज्ञान का अधिकारी या इस जैसी पुस्तक का अधिकारी नहीं हूँ, अपितु इसको अपना मुख्य कर्तव्य समझकर सदैव इसका अध्ययन करते रहना चाहिए।

(७) इस बात पर इस कलियुग में स्वम् अनुवादक की ही साक्षी पर्याप्त है। क्योंकि अनुवादक ने इस जन्म में कुछ तपश्चर्या नहीं की, किन्तु जन्म के आरम्भ ही से उस में आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा प्रबल थी। इसी कारण आयु के पूर्व भाग में प्रायः भिन्न-भिन्न धर्मों की छानबीन और खोज होती रही। किन्तु जब उनमें झगड़ा ही देखा, कुछ प्रत्यक्ष फल प्राप्त न हुआ, तो सूफी—सम्प्रदाय के अरबी-भाषा के अद्वैतमत के ग्रन्थ देखने लगा। वहाँ भी प्रयोजन सिद्ध न हुआ। इस

अवसर पर जो मुसलमानी-साधु फ़क़ीर मिले उनमें सिवाय भंग और चरस के नशे के और कोई नशा न पाया। फिर संस्कृत भाषा सीखी और स्वामी अमरदासजी महाराज परमहंस फगवाड़ा से वेदान्त-शास्त्र के प्रकरण-ग्रन्थ शास्त्र-नियमानुसार अध्ययन किये। अल्बत्ता इन, महात्मा की कृपा से इतना विश्वास और निश्चय ज़रूर हुआ कि इस शास्त्र के अतिरिक्त ज्ञान प्राप्त करने का और कोई साधन नहीं है। उन्होंने मुझमें उत्कट जिज्ञासा देखकर वर भी दिया कि "यदि तुम इसी प्रकार से शास्त्र का विचार और अध्ययन करते रहे, तो आत्म-साक्षात्कार तुम्हें अवश्य लाभ होगा।" किन्तु शोक है कि कुछ काल के पश्चात् उनका देहान्त होगया।

(८) फिर तो युवावस्था में प्रायः जीविका की चिन्ता हो जाती है। इसलिये महाराज कपूर्थला के यहाँ मुलाज़िम हो गया। किन्तु ईश्वर की कृपा से मुझे श्रद्धास्पद पूज्यवर श्रीमान् दीवान रामजस महोदय सितारे हिंद की सेवा प्राप्त हुई, कि जो स्वयम् इसी अनुराग में अनुरक्त थे। उनकी सेवा में प्रायः महात्मा परमहंसों की भेंट होती थी, उनसे बहुधा इस विद्या के सूक्ष्म और गुप्त रहस्यों का ज्ञान हुआ, बल्कि दीवान महोदय के पुस्तकालय से जिस ग्रन्थ को पढ़ने का महात्मा लोग उपदेश करते, वह मुफ़्त मिल जाया करता था, जिसे अवकाश के समय उन्हीं महात्माओं से पढ़ता रहा। किन्तु इस विद्या के सिद्धान्त उसी तरह प्राप्त हुए जैसा कि तोता भी मनुष्य की बोली सीख लेता है, परन्तु आत्म-साक्षात्कार न हुआ।

(९) फिर सौभाग्य से श्रीयुत दीवान महोदय काशीजी और गयाजी तीर्थों की यात्रार्थ गये और अनुवादक को भी अपने साथ ले गये। इस तीर्थयात्रा में अन्तःकरण सुकोमल हो

गया और ईश्वर की कृपा से देवताओं के दर्शन के साथ-साथ उच्चकोटि के ज्ञानवान् परमहंसों के दर्शन भी प्राप्त हुए। किन्तु जिस आत्मदर्शी से मिलता, वह आश्चर्य करता कि ऐसी उत्कट जिज्ञासा, शुद्ध विचार, और ज्ञान पिपासा के होते हुए भी क्या कारण है कि अब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ। अन्त में यही तय पाया कि 'कोई कठिन भावी प्रतिबन्धक है जो टूटता नहीं, इसी तरह इस शास्त्र और ज्ञानियों के सतसंग में लगे रहना चाहिए। महात्माओं के सतसंग के प्रसाद से जब भावी प्रतिबन्धक टूट जायगा, तत्काल साक्षात्कार हो जायगा।' प्रायः ऐसे महात्माओं से वरदान भी माँगता और वह मेरे लिये दत्त चित्त से आशीर्वाद भी देते थे। किन्तु श्रीकाशीजी में पूज्यवर दीवान साहिब संग्रहणी रोग में ग्रस्त हो गए, इसलिये कुछ समय तक श्री काशीजी में ही निवास रहा। अनुवादक तो जब अवसर पाता, निकल जाता और परमहंसों का सतसंग करता। अन्त में एक परमहंस ज्योतिजी से भेंट हुई, जो आत्मदर्शी थे। उन्होंने कहा कि जब तुम उपनिषद्भाग का भली भाँति अध्ययन और मनन करोगे, तभी प्रतिबन्धक दूर होगा और आत्म-साक्षात्कार होगा, क्योंकि हमको भी प्रकरण ग्रंथों से साक्षात्कार नहीं हुआ था, उपनिषद् भाग के बार-बार विचार करने से ही साक्षात्कार हुआ है। इसी समय पण्डित कृष्णचन्द्र पंजाबी से कुछ-कुछ प्रकरण ग्रन्थ भी अध्ययन किए।

(१०) एक बार अमीर काबुल के शुभागमन पर अम्बाला नगर में जो जलसा हुआ, उसमें सरकारी लश्कर के साथ श्री गंगाजी जाना हुआ, क्योंकि दरबार के पश्चात् श्रीमान् गवर्नर जनरल बहादुर शेर का शिकार करने के लिये गये थे और हमारी सरकार को शेर के शिकार से प्रेम था, इसलिये

वहाँ जाना हुआ। मैं प्रायः महात्माओं के दर्शन से अन्तःकरण को निर्मल करता था, संयोग वश महामान्य दीवान साहिब श्रीस्वामी चेतनदेव जी महाराज की सेवा मे, कि जो उच्चकोटि के ज्ञानी और आत्मदर्शी थे, पधारे। महामान्य दीवानजी इस विषय में मेरे सहयोगी थे, इस कारण ऐसे विषय में मुझे अपने साथ ले जाया करते थे। संयोग से मैं उस समय उपस्थित नहीं था, इसलिये आपने एक सेवक को आज्ञा दी कि जहाँ हो ढूढकर ले आओ, हम उनकी प्रतीक्षा मार्ग में श्रीगंगाजी के किनारे करेंगे, और प्रशंसा यह कि जब तक अनुवादक नहीं गया, श्रीमान् बराबर प्रतीक्षा करते रहे। जब मैं पहुँचा तो आप जहाँ स्वामीजी महाराज की कुटिया थी, पधारे। अभिवादन और पूजन एवम् प्रसाद-वितरण के पश्चात् स्वामीजी महाराज ने आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में कुछ उपदेश दिया। महामान्य दीवानजी महोदय ने मेरी ओर संकेत करके निवेदन किया कि यह लड़का मुझ से अधिक वेदान्त शास्त्र पढ़ा हुआ है, मुझको संस्कृत-शब्दों का विशेष परिचय नहीं है। इस पर स्वामीजी महाराज ने मेरी ओर मुख करके इस विद्या से सबन्ध रखने वाले कई सूक्ष्म विषयों को परीक्षार्थ मुझ से पूछा। मैंने इस शास्त्र को तोते की भाँति पढ़ा था, उन प्रश्नों का ठीक उत्तर दिया। स्वामीजी महाराज ने कहा—यह युवक अच्छा है और बहुत अच्छी समझ रखता है, क्योंकि इस प्रकार के सूक्ष्मतत्त्व प्रायः ब्राह्मणों को जो तपस्या करते है, नही आते। यह काम तो शुद्ध बुद्धि का है।

(११) मैने उस समय रोकर निवेदन किया कि यद्यपि मैने इस विद्या को सीखा है और इस विद्या की प्रक्रिया भली भाँति ज्ञात की है, किन्तु मुझको आत्मा का साक्षात्कार नहीं

हुआ। इस पर स्वामीजी ने बहुत आश्चर्य किया और मुझको कुछ मिनटों तक भली भाँति देखा। थोड़ी देर बाद सोच कर कहा कि तुमको वास्तव में आत्म-साक्षात्कार की उत्कट लगन वा जिज्ञासा है। मैंने निवेदन किया—"इसी लगन के कारण इस ज्ञान तक पहुँचा हूँ किन्तु ऐसा अभागा हूँ कि अब तक आत्म-साक्षात्कार से वंञ्चित हूँ।" स्वामीजी ने कहा–"तुमको शास्त्रीय प्रक्रिया भलीभाँति आती है, तुम्हारे जैसे व्यक्ति को हमारे सत्संग से अल्प काल में आत्मसाक्षात्कार हो सकता है, किन्तु दीवान महोदय जो इस शास्त्र की प्रक्रिया से परिचित नहीं है दीर्घ काल के सत्संग से प्राप्त कर सकते हैं। यदि एक सप्ताह तक तुम हमारे पास रहो, तो कदाचित् तुम सफल मनोरथ हो जाओ, और दीवान साहिब के लिये कहा कि तुम भली भाँति भक्ति और भजन-पाठ करते रहो और वेदान्त शास्त्र आत्मदर्शी पुरुषों से सुना करो। समय पर आत्मदर्शन का सौभाग्य हो जायगा।"

(१२) महामान्य दिवान साहिब ने कहा—"कि इस लड़के को आपकी सेवा में छोड़ता हूँ, और मैं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँगा। स्वामीजी महाराज ने कहा"—आप निराश न हों यह लड़का हमको तत्पर प्रतीत होता है। दीपक और बत्ती इसमें विद्यमान है, और अग्नि भी इसके भीतर ही है, हमें केवल उस बत्ती को प्रज्वलित कर देना है। जिस समय इसकी बत्ती जल उठी, यह आपके साथ रहता ही है, यह स्वयम् आपमें दीपक और बत्ती उत्पन्न करके प्रज्वलित कर देगा। श्रीमान् दीवानजी महोदय ने अत्यन्त नम्रता पूर्वक प्रणाम किया और धन्यवाद अर्पण करके स्वामीजी महाराज से विदा हुए।

(१३) उधर उसी दिन सरकार ने शेर का शिकार कर

लिया और सायंकाल को लौट चलने की आज्ञा हुई। लश्कर और श्रीमान दीवानजी महोदय तो सरकार के साथ अगले दिन कपूर्थला की ओर प्रस्थानित हुए, किन्तु श्रीमान् दीवानजी महोदय ने अपनी प्रतिज्ञानुसार मुझे आज्ञा प्रदान की कि जब तक स्वामीजी महाराज जाने की आज्ञा न दें, तुम यहाँ रहो। सवारी, आदमी तथा मेरे खर्च का प्रबन्ध अपने पास से कर दिया, वरन् एक घोड़ी खिदमतगार के साथ गंगाजी पर वायु सेवन के लिये छोड़ दी। यह उस समय की बातें है जब कि श्रीमान् दिवान मथुरादास महोदय विलायत से रियासत के हिस्से-बाँट की अपील को जीतकर आए थे। और यहीं गंगाजी पर लश्कर में सम्मिलित हुए थे। मार्ग में अम्बाला से श्रीमान् दीवानजी महोदय ने मुझको पत्र लिखा कि प्रियवर, जैसा मेरा पुत्र दीवान मथुरादास है, वैसे ही तुम भी पुत्र हो और यह शुभ वर्ष आरम्भ हुआ है कि दीवान मथुरादास विलायत से रियासत का भारी मामला जीतकर आया है, लेकिन जिस काम के लिये तुमको गंगाजी पर छोड़ा है, वह उससे बढ़कर भारी मामला है, क्योंकि वह काम नाशमान संसार के सम्बन्ध का है और यह काम परलोक के सम्बन्ध का है जो अविनाशी है, और मैं इस साल शुभ शकुन निकालता हूँ कि शीघ्र तुमको कपूर्थला में विजयी देखूँ, जैसा कि मथुरादास को श्रीगंगाजी पर देखा था।

(१४) अनुवादक दो दिन तक श्रीस्वामीजी महाराज की सेवा में उपस्थित रहा, परन्तु रात के समय सरकार की हवेली में आजाता था। स्वामीजी महाराज ने शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार मेरे अन्तःकरण का सब हाल मालूम कर लिया जिसका परिणाम विवेचना करके ठीक यह तय पाया कि तुमने

इस विद्या को सीखा तो है किन्तु प्रक्रिया के अनुसार लकड़ियाँ हाथ में लेकर आत्मदर्शी से महावाक्य का श्रवण नहीं किया। हाथ में लकड़ियाँ लेने को "समित्पाणि" बोलते हैं। यह वह गुरु-सन्मान वा अभिवादन है कि जो जिज्ञासु-जन महावाक्य सुनते समय श्रुति भगवती की आज्ञानुसार करते हैं।

(१५) श्रुति भगवती ने यह आवश्यक नियम बतलाया है, इसलिये तुमको कल ऐसा करना चाहिए। अतः अनुवादक आज्ञानुसार प्रातः-काल वेद के नियमानुसार लकड़ियाँ लेकर उपस्थित हुआ और ब्रह्म साक्षात्कार के लिये प्रार्थना की। स्वामी जी मुझको एक स्वच्छ और शान्त कुटिया में ले गए, जहाँ केवल गंगाजी की शीतल रेणु का ही फर्श था। अनुवादक उसी शीतल बालुका-भूमि पर श्रीस्वामीजी महाराज के सन्मुख बैठ गया। श्रीस्वामीजी महाराज ने महावाक्य का उसी प्रकार विधान के अनुसार उपदेश करना आरम्भ किया। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं को पृथक्-पृथक् करके दिखलाया, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में जब अज्ञान और शुद्ध चेतन के भेदकी पहचान तथा विवेक की नौबत पहुँची, और स्वामीजी ने शास्त्रीय नियम के अनुसार अज्ञान पर संकेत किया, तो अज्ञान का आवरण मुझको अवश्य दिखलाई दिया, और मैंने निवेदन किया कि अज्ञान का आवरण मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। जब अपनी दृष्टि को मैंने यहाँ तक वर्णन किया, तो स्वामीजी ने कहा—"इस आवरण के बाद देखो, क्या है।" उस समय मुझको कुछ न दिखाई दिया। निवेदन किया कि इसके बाद मुझको कुछ दिखाई नहीं देता। तब स्वामीजी ने भली भाँति जान लिया कि मेरी धारणा उस अज्ञानावस्था से, जिसे संस्कृत भाषा में आनन्दमय कोष कहते हैं और सूफीमहानु-

भावों ने "लतीफा सिर्री" लिखा है, कठोर है, उठती नहीं। कई बार शास्त्र-विधान से श्रुतियों और युक्तियों का उपदेश किया जो अज्ञान की धारणा को दूर करती है, किन्तु यह धारणा ऐसी कठोर थी कि दूर नहीं हुई, अन्ततः संध्या हो गई और स्वामीजी भी जो इस समय तक सूक्ष्म युक्तियों को प्रायः वेग से वर्णन करते रहे और लेखक भी उन सूक्ष्म युक्तियों का अपनी ज्ञानशक्ति से खण्डन करता था, उस समय तक उनका उपदेश सफल नहीं हुआ, किन्तु इतना अवश्य हुआ कि मैं मनोमय कोष से निकलकर आनन्दमय कोष में विचरने लग पड़ा।

(१६) अन्त में स्वामीजी ने युक्तियों को त्याग कर यह कहा कि तुम श्रुति भगवती और हमारे वचनों पर भरोसा करो कि तुम्हारा इस अन्धकार या अज्ञान में अहंभाव है, और आत्मा का यह विचित्र रहस्य है कि जिसका भाव उसके स्वरूप में होता है उसी का रंग वह ग्रहण करता है। देखो जाग्रत में जब पदार्थों का तुम अनुभव करते हो, वही आकृति दिखाई देती है, अतः आत्मा उसी के रूप में रंग जाता है। वैसा ही सुषुप्ति में यही अज्ञान होता है, जिसकी पहचान और अनुभव अब तुमको हुई है और उस समय आत्मा भी अज्ञान का रंग ग्रहण करता है और अज्ञानमय वा अज्ञानसा हो जाता है, इसी कारण मनुष्य घन-सुषुप्ति में बेखबर हो जाता है और अन्धकार वा अज्ञान भी तुममें उसी प्रकार आरोपित और लाचार है, जिस प्रकार पदार्थों के देखते समय जागृति में नाना प्रकार के रूप और दृश्य पदार्थ आरोपित और लाचार हैं। और यह उसी कारण से आरोपित है, जिस कारण से दृश्य पदार्थों की आकृति जागृति में आरोपित और प्रतिविम्बित होती है। और उनका कारण तेरी ही भावना या कल्पना होता है, और यहाँ भी तेरी ही भावना वा कल्पना से

अज्ञान, अन्धकार तुममें प्रतिबिम्बित है। तुम अज्ञान की कल्पना त्याग दो, उसी समय अपना आप ज्योतियों की ज्योति दिखाई देगी।

(१७) अनुवादक ने स्वामीजी के इस उपदेश को भली भाँति समझ तो लिया, किन्तु भावना का त्याग उस समय उसकी समझ में नहीं आता था। निवेदन किया कि इतना तो अवश्य मुझको निश्चय पूर्वक सिद्ध हुआ कि "आत्मदेव की यह अद्भुत विभूति है कि जो वस्तु उसमें प्रतिबिम्बित या आरोपित होती है, उसी का रंग वह ग्रहण करता है, और वास्तव में आनन्दमय कोष में अज्ञान प्रतिबिम्बित या आरोपित है, और उसी अज्ञान के अन्धकार से मैं अन्धकारमय हूँ और निश्चय होता है कि मैं दर्पण की भाँति हूँ और अज्ञानान्धकार में रंगा गया हूँ, किन्तु अज्ञान रहित शुद्ध या पवित्र आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ। कहा—"यह तभी होगा जब आत्मा का अज्ञान दूर होगा।" प्रार्थना की—"वह किस प्रकार दूर होगा ?" कहा—"जब पवित्रात्मा अथवा ज्योतियों की ज्योति स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होगा। क्योंकि जिसका अज्ञान होता है, उसीके साक्षात्कार से चला जाता है। यही शास्त्र का पूर्ण विधान है।" विनय की—"आपका यह कथन घूम फिरकर वही है। क्योंकि आत्मा का साक्षात्कार आप अज्ञान-निवृत्ति पर निर्भर बतलाते हैं, और अज्ञाननिवृत्ति का निर्भर आत्म-साक्षात्कार पर आप बताते हैं।' कहा—"तेरा यह उत्तर सत्य है और माननीय है किन्तु महावाक्य जो शास्त्र-विधान से तुमको हम सुना रहे हैं, वह एक प्रभाव रखता है, जिससे अन्तःकरण की वृत्ति अहंब्रह्मास्मि के निश्चय के साथ उठती है, और यह निश्चय वास्तव में चित्त या अंतःकरण की एक ऐसी वृत्ति है जिसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः यह वृत्ति चित्तारूढ़ होकर

आत्मज्योति से प्रज्वलित हुई इस अन्धकार की विरोधी है, जिससे वह उसी तरह उड़ जाता है जिस तरह कि दीपक की ज्योति से अन्धकार।" निवेदन किया— "फिर मेरा अज्ञान क्यों नहीं उड़ता ?" कहा—"उसका कारण यह है कि तुम्हारे में उलटेपन की भावनाएँ स्वाभाविक भावनाओं की अपेक्षा बहुत अधिक और दृढ़ हैं। यह महावाक्य स्वाभाविक उलटेपन को तो ऐसे अवसर पर तत्काल उड़ा देता है, किन्तु जिसमें विरुद्ध पक्ष के लोगों की शिक्षा उलटेपन की अधिक दृढ़ता होती है, वह महावाक्य के प्रभाव से इसी तरह बाधक होती है जैसा कि भीगे हुए रुई के पहल (फम्बे) में पानी की तरी अग्नि के प्रभाव की बाधक होती है"। निवेदन किया— "फिर मेरे जैसे दुर्भाग्य की चिकित्सा शास्त्र में या आपके निकट क्या है ?" कहा-"यह स्पष्ट है कि भीगी हुई रुई के फम्बे को पहले धूप में सुखा लिया जाय, जब भली भाँति सूख जाय, तब अग्नि में दिया जाय' उस समय वह तत्काल उड़ जायगा। इसी तरह यह जो उलटापन अर्थात् विरोधी, मूढ़ और विदेशी लोगों की शिक्षा और सिद्धान्त हैं, वही इस जगह महावाक्य के प्रभाव में बाधक है। पहले उसको उखाड़ दो और फिर जिस विधान से हमने महावाक्य सुनाया है, उस पर विचार या मनन करो। उस समय अज्ञान जो स्वरूप का आवरण है स्वत. उड़ जायगा। उसके बाद आत्मा ज्योतियों की ज्योति स्वरूप अनुभव होगा, और यही आत्म-साक्षात्कार है।" निवेदन किया—"आपही कृपा करके बतावें कि उन झूठे निश्चयों की जड़ को मैं कैसे काटूँ ?" कहा—"ये समस्त झूठे निश्चय तुम्हारी ही पक्की भावनाएँ या कल्पनाएँ है, तुम स्वयम् ही उनको बदल सकते हो, इसमें हम क्या कर सकते हैं।" निवेदन किया गया –"आप जैसे गुरु

मुझ पर दयालु हों और मैं अपने झूठे निश्चयों के मूलोच्छेदन में समर्थ न हूँ, और आप कुछ यत्न न बतलाएँ, तो मेरा अत्यन्त दुर्भाग्य है।" तब मुस्कराकर बोले—"तुम यदि हमसे यत्न पूछते हो, तो शास्त्र-विधान के अनुसार उसका यत्न 'अहंग्रह-उपासना' है।"

(१८) लेखक को अरबी ग्रन्थों का अध्ययन करने के कारण विपरीत भावना अर्थात् उलटापन अधिक कठोर था, क्योंकि उनकी पुस्तकों में "अनलहक़" अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि के अर्थ को ख़ुदाई दावा और कुफ़् के शब्द से घृणा उत्पादक कर दिया हुआ था, और अहंग्रह-उपासना में अनजाने इसी पर विश्वास करना है। इसलिये श्रीस्वामीजी की सेवा में निवेदन किया कि इसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, वरन् घृणा होती है। और यह स्पष्ट है कि मनुष्य उपासना उसी की करता है जिसमें उसकी प्रवृत्ति होती हो और आनन्द मिलता हो। इस हेतु कि इस उपासना में मेरी प्रवृत्ति नहीं और न कुछ आनन्द मिलता है, अतः मैं इस उपासना की प्रतिज्ञा नहीं कर सकता यद्यपि इस घृणा की निवृत्ति के लिये स्वामीजी महाराज शास्त्रीय नियम के अनुसार युक्तियाँ देते रहे और लेखक उनका खण्डन करता रहा, किन्तु इस उपासना में उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति भी न हुई और उसका अभ्यास तो कब हो सकता था।

(१९) स्वामीजी ने कहा—'देखो, विरोधी देश की विद्या और भाषा ने ऐसी स्वाभाविक या अज्ञान-जन्य भावना तुम में दृढ़ कर दी है कि उसके विरुद्ध चलने का संकल्प तो क्या वरन् चलने में घृणा करते हो, फिर महावाक्य तुममें किस प्रकार प्रभाव डाल सके। और साक्षात्कार विना महावाक्य के होता नहीं, यही वेद शास्त्र का सिद्धान्त है, जैसा कि सविस्तार

विवरण इसका उपनिषदों के अध्ययन से प्रतीत होगा। किन्तु मैं उचित समझता हूँ कि तुम वेद पर विश्वास करके और हम पर भरोसा करके इस उपासना को करो। यद्यपि तुम उसमें प्रवृत्ति नहीं रखते, वरन् घृणा रखते हो, और यह स्पष्ट है कि रोगी के लिये कटु औषधियों का प्रयोग चाव से नहीं, वरन् घृणा और कड़वेपन के साथ ही होता है, किन्तु इस हेतु कि उसका फल मधुर होता है, इसलिये बुद्धिमान पुरुष चिकित्सक पर भरोसा करके उसका सेवन करते है, और जो वस्तुएं स्वादिष्ट और चित्ताकर्षक है, वैद्य उन्हें रोगी के लिये हानिकारक बतलाते हैं। इसी प्रकार आत्मा ने अहंभावना वा अहंता को शारीरिक अन्धकारमय अंश में अनादि स्थिर कर रक्खा है, यही हानि है। और वैदिक चिकित्सा इस अहंता का त्याग कराती है, क्योंकि वेद का वास्तविक तात्पर्य यह है कि आत्मा में ही जो भौतिक पदार्थों की भावना हो रही है, यह संसार के जन्म-मरण का कारण है, और जब यह भावना पलट कर आत्मा की आत्मा में ही (जो देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित है) लय हो जाती है, तो संसार का जन्म-मरण नहीं होता। और यह स्पष्ट है कि जो ग्रन्थ या शिक्षाएं शारीरिक या मानसिक अथवा अज्ञान-जन्य झूठी भावनाएं दृढ़ कराती है, और आत्म-भावना में घृणा जतलाती हैं, वास्तव में चिकित्सक नहीं, चिकित्सक बने हुए है। आप निस्सन्देह इस उपासना को करो।

(२०) फलतः स्वामीजी ने इस विषय में और बहुत से उपदेश दिए जो लिखे नहीं, किन्तु अनुवादक ने इस उपासना को अस्वीकार ही किया। अन्त में उन्होंने कहा—'तुम सगुण उपासना करो, और जिसमें तुम्हारी प्रवृत्ति है उसको न करो,

जो शास्त्र उपाय बतलाता है उसके अनुसार करो। जैसे शिवोपासना, शालिग्रामशिलार्चन इत्यादि। इस हेतु कि इस प्रकार की उपासना में भी इन्हीं ग्रन्थों के कारण मूर्तिपूजा में घृणा की धारणा और निश्चय हो रहा था, उसे भी स्वीकार किया। तब स्वामीजी मुझसे अप्रसन्न हो गए और मुझको "दुष्ट" की उपाधि दी और ऐसे-ऐसे शब्द कहे जैसा कि महात्मा लोग रुष्टता के समय कहा करते हैं।

(२१) उस दिन संध्या हो गई थी, लेखक नित्य की तरह घर पर आ गया। प्रातःकाल ही फिर उपस्थित हुआ, और निवेदन किया कि अब मेरे लिये क्या आज्ञा है, यहाँ रहूँ या कपूर्थला चला जाऊँ। कहा—"तेरे यहाँ रहने की आवश्यकता नहीं, कपूर्थला चला जा।" जब मैं दण्डवत-प्रणाम करके विदा होने लगा, तो फिर कृपापूर्वक कहा—"अच्छा, यह तो ज्ञात हो गया कि तुम हमारे ऊपर और वेद-शास्त्र के ऊपर विश्वास नहीं रखते, किन्तु तुम हमारे शास्त्रीय-विधि के अनुसार शिष्य हो चुके हो, इसलिये तुमसे आत्मिक सम्बन्ध हो चुका है। उचित है कि तुम कल के दिन ठहर जाओ। दूसरे दिन चले जाना।" निवेदन किया—"बहुत अच्छा।" कहा—"मगर अब हमारे पास न रहो, डेरे में रहो। कल ८ बजे सबेरे आ जाना" लेखक आज्ञानुसार मकान पर चला आया।

(२२) लेखक तो मकान पर चला आया। उधर स्वामीजी ने मालुम होता है चिट्ठियाँ लिखकर जितने आत्मदर्शी महात्मा गंगाजी पर थे, सब को निमंत्रित किया। प्रतिज्ञानुसार अनुसार बंदक आठ बजे सबेरे स्वामीजी की शांति-कुटीर में गया, तो क्या देखा कि कुछ महात्मा शान्ति-स्वभाव और पूर्ण विद्वान् विराजमान हो रहे हैं। जब मैं गया, दूर से देखकर स्वामीजी

ने मेरी ओर संकेत करके कहा—"यह वह दुष्ट आता है जिसके लिये आपको कष्ट दिया है"। तब लेखक ने जान लिया कि स्वामीजी ने मेरे ही लिये सब महात्माओं को कष्ट दिया है। निदान दंडवत् करके लेखक भी बैठ गया और इसी प्रकार तर्क और वितर्क जो ऊपर लिख चुका हूँ होता रहा, और सब महात्माओं ने अन्त में एक स्वर से मुझ से आदेश किया—"हे प्रिय! हम सब ज्ञानीजन जो इस समय तेरे रोग के निदान के लिये एकत्रित हुए हैं, आत्मदर्शी हैं। हमको आत्मा इस प्रकार दिखाई देता है जिस प्रकार कि हाथ पर रक्खा हुआ आमलक (आँवला) दिखाई देता है; नहीं-नहीं, वरन् इस प्रकार दिखाई देता है जिस तरह तुम को तुम्हारा यह भौतिक शरीर दिखाई देता है। और जिस प्रकार चतुर चिकित्सकगण चिकित्सा-विज्ञान के नियम के द्वारा शारीरिक रोगों की जाँच वा परीक्षा कर सकते है, इसी तरह हम आत्म-चिकित्सकगण शिष्य के आत्मिक अर्थात् मानसिक रोगों की परीक्षा और चिकित्सा कर सकते हैं। आपका मानसिक रोग हम सब पर सिद्ध हुआ है कि उलटेपन का रोग और मिथ्या भावना आप में अज्ञान के अन्धकार से भी बढ़ कर पक्की और दृढ़ हो रही है, और अहंग्रह-उपासना के प्रयोग के सिवा आपकी इस रोग से मुक्ति दुर्लभ है। इस हेतु कि तुम समित्पाणि होकर स्वामीजी से महावाक्य श्रवण कर चुके हो, तुम्हारे लिये उचित है कि स्वामीजी के आदेशानुसार और हम सब के निश्चयनुसार तुम कुछ काल तक अहंग्रह उपासना करो और हंस-मंत्र का जप करो, और वेद का उपनिषद्-भाग विचारते रहो और महावाक्य के अर्थ विशेष रूप से मनन करते रहो। जब अहंग्रह-उपासना से उलटापन टूट जायगा, तब महावाक्य के विचार से अज्ञाना-

वरण उड़ जायगा। इस चिकित्सा के अतिरिक्त आपका दूसरा उपचार (इलाज) नहीं। आपको अधिकार है कि युक्तियाँ त्यागकर आप ऐसा करो चाहे न करो, जब आपकी इच्छा हो करो। उस समय ही इस सत्संग का फल जानना जब तत्त्व-साक्षात्कार अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो। अब तुम्हें विदा है।"

(२३) अनुवादक फिर विदा होकर चला आया और कपूर्थला में उपस्थित हो गया और श्रीमान् दीवान साहिब से वृत्तान्त निवेदन किया। दीवान साहिब ने जब निराशा पाई; कहा—"खैर, भाग्य की बात है।" अब मैं अपना हाल जो इसके पश्चात हुआ लिखता हूँ।

(२४) मुझको स्वामीजी के आदेश और उन महात्माओं के निश्चय दिलाने पर पूरा भरोसा न हुआ। इसलिए अहंग्रह-उपासना या सगुण-उपासना से तो उपरामता और घृणा ही रही। पर स्वामीजी के उपदेश से यह फल अवश्य हुआ कि मैं मनोमयकोष से निकलकर आनन्दमयकोष में प्रविष्ट हो गया। अब इस स्थान पर अज्ञान के आरोपित अन्धकार के कारण अपने आपको मैं शून्य देखता हुआ अविशिष्ट तत्त्व को सबका अधिष्ठान समझता रहा, जिसको सूफी महानुभावों ने फ़नह फ़िल्ला कहा है और संस्कृत मे इसीको बाध-समान-अधिकरण कहते है, और इस अवस्था में जो महावाक्य के अर्थ मैं करता था, अपने अनुभवानुसार और पंचदशी के कर्त्ता श्री स्वामी विद्यारण्य के नियत नियमों के अनुकूल करता था, जिससे अनलहक़ के अर्थ भी निकलते है कि मैं नहीं, वरन् शेष, सब सत्य है, और इस अवस्था में मुझको यह अध्यास हो गया कि मैं शून्य मात्र हूँ, केवल शेष तत्त्व सत्यमात्र है, और मुझ में अस्तित्व, शक्ति वा प्रकृति, विद्या और बुद्धि जो कुछ है, सब

इसी सत्य से ही आरोपित है। और इस हेतु कि आरोपण या मॉग में आरोपित वस्तु वास्तव में तुच्छ या मिथ्यामात्र होती है, इसलिये वास्तव मे मै अस्तित्ववान नहीं हूँ और अन्धकार वा शून्यमात्र हूँ। और यह धारणा इसलिये मुझको हो गई कि आनन्दमय कोष में, जो स्वामीजी के उपदेश से प्रवेश हो चुका था अज्ञान जन्य कल्पना से अपने आपको केवल अन्धकार और केवल मिथ्यारूप देखता सा हो गया, जो अवस्था वास्तव में अज्ञान की है।

(२५) इस अवस्था में मुझको एक विचित्र अद्वैतवाद का तत्त्व अनुभव हुआ ; अर्थात् सत्यस्वरूप कर्त्ता अनुभव होता, और आत्मा यत्र मत्र मालूम होता था, वरन् प्रत्येक वस्तु में जो क्रियामाणता देखता था, उसे सत से प्रेरित देखता, और प्रत्येक वस्तु का कुछ मे से कुछ को कारण और कुछ को कर्म वा कर्मफल देखता, और इसी पर सूफी महनुभावों ने कर्मों की एकता का संकेत किया है। और इससे विचित्र-विचित्र अवस्थाएँ दिखाई दीं जिनका विस्तृत विवरण बहुत है। अन्तिम परिणाम यह हुआ कि मैं अपने आपको जीवित ही मृतक (ज़िन्दा ही मुर्दा) समझता था।

(२६) शास्त्रीय विधि के अनुसार भजन-पाठ में तो प्रवृत्ति नहीं थी, केवल संध्या-मात्र एक काल करता था, किन्तु गुरु नानकजी की वाणी बड़े अनुराग के साथ पढ़ा करता था, और इसी का पाठ भी करता था, क्योंकि यह वाणी प्रायः मेरी अवस्था के अनुकूल थी। जैसे—"क्या जाना क्या वरसी प्यू, मेरा थरथर कँपे वाला ज्यू।" इस प्रकार के शब्द बहुत आनन्द दिया करते थे. और इस हेतु कि अन्य कु-अवस्था मे फँसा हुआ था, काल्पनिक ईश्वर का भय और तेज अपना प्रभाव जमाए हुए

था, वरन् इन्हीं दिनों में मैंने उर्दू-भाषा में जपजी में एक टिप्पणी देखी जो सब मेरी उस अवस्था की साक्षी देती थी।

(२७) उधर स्वामीजी की चिट्ठियाँ भी महामान्य श्रीमान् दीवानजी महोदय के नाम आया करती थीं, और उनमें प्रायः मुझको "दुष्ट" शब्द से स्मरण किया जाता था कि उस दुष्ट का हाल भी लिखिएगा। इसी प्रकार लगभग साल भर मैं इसी आनन्दमय कोष में बद्ध रहा।

(२८) स्वामीजी से उपदेश लेने का जो वृत्तान्त मैंने लिखा है, यह उस वृत्तान्त से पहिले का है जो दीवान महोदय तीर्थ यात्रा के निमित्त काशीजी पधारे थे और लेखक उनके साथ था, जिसका वृत्तान्त पहले लिख चुका हूँ। किन्तु जब काशीजी से श्रीमान् दीवानजी महोदय लौट आए और फिर श्रीगंगाजी पर पधारे और स्वामीजी की सेवा में दर्शन की प्रार्थना की। स्वामीजी ने कहा कि आज क़ाग़ज़ का एक साफ़ तख़्ता भेज दो, हम उस पर कुछ लिखकर आपको दर्शन के समय शिक्षा देंगे, कदाचित् आपको ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाय। अतः तत्काल एक तख़्ता क़ाग़ज़ नौकर के हाथ से भेज दिया गया। परन्तु विचार यह था कि आज ही दर्शन करके रुड़की जा रहें। किन्तु जब स्वामीजी ने उस दिन दर्शन देने से इनकार किया और कल के लिये वादा किया, तब चिन्ता हुई कि क्या किया जाय। अन्त में निश्चय हुआ कि आज डेरा रवाना कर दिया जाय, केवल दो आदमी रख लिये जायँ। सबेरे दर्शन करके डेरे में आ मिलेंगे और वैसा ही किया गया।

(२९) प्रातःकाल ही स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। अनुवादक साथ में था। देखते ही आदेश हुआ, इस दुष्ट को क्यों साथ लाए ? और मुझको दो चार खोटी-खरी भी सुनाईं।

अन्त में आज्ञा की यह दुष्ट उस दूसरी कुटिया में चला जाय, आप अकेले मेरे पास रहें। अतः मैं आज्ञानुसार दूसरी कुटिया में अलग जा बैठा और दीवान महोदय को कुछ-कुछ शिक्षा दी, किन्तु उन्हें ब्रह्मसाक्षात्कार न हुआ। दीवान महोदय बुद्धिमान पुरुष थे, उनको दुखित करना उचित न समझ, जैसा वह कहते रहे, अच्छा-अच्छा के शब्द से उन्हें प्रसन्न रक्खा। उसके बाद मेरी सिफ़ारिश की कि आप उसको भी अब समझा देंगे, तो समझ जायगा। उसका अपराध क्षमा करें।

(३०) स्वामीजी ने दीवानजी महोदय की सिफ़ारिश स्वीकार कर ली और मुझको भी फिर बुलाया गया। किन्तु दीवान महोदय ने मुझे फ़ारसी में समझा दिया था, इसलिये जो कुछ उन्होंने शिक्षा दी, मैं चाहते या न चाहते हुए अथवा जाने वा अनजाने उसे सब "ठीक-ठीक" कहता रहा, और उनकी क्षमा कराके विदा हुआ। मार्ग में भी यही विचार उत्पन्न हुए—"भला तत्त्व-साक्षात्कार इस कलियुग में कहाँ है, यों ही ये साधू-लोग बहकाते है।" इस हेतु कि दीवान महोदय बहुत सतोगुणी प्रकृति के है, कहा उस बुढ़िया की कहानी स्मरण करो जो मुट्ठी भर सूत के बदले में यूसुफ के खरीदारों में इतिहास में दर्ज हुई। क्या आनन्द है कि हम भी दर्शनाभिलाषियों में तो हैं।

(३१) संक्षेप में यह कि इस प्रकार की ब्रह्म जिज्ञासा और लग्न में अनुवादक की यह दशा थी। किन्तु वेदान्त का विचार और परमहंसों का सत्संग नहीं छोड़ता था। अन्त में कुछ दिन बाद मुझको वकालत का पद रियासत से मिला और श्रीमान् दीवान महोदय के चरण-सेवा से वियोग हुआ। पाँच छे वर्ष के पश्चात् जो दीवान महोदय के दर्शन लाभ हुए, तो दीवान महोदय की चित्त की अवस्था बहुत उन्नत प्रतीत हुई। वह

मुझे एकान्त कमरे में ले गए और किवाड़े बन्द कर लिये, और अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरी ओर दृष्टिपात किया किन्तु कुछ कह न सके। तब निवेदन किया "यह क्या बात है।" कहा—"हे प्रिय! मुझको आत्म-साक्षात्कार का प्रकाश लाभ हुआ, अत्यन्त आनन्द में हूँ, वर्णन नहीं कर सकता। निवेदन किया, "तब भी कुछ तो वर्णन कीजिए"। कहा—"क्या वर्णन करूँ, जो कुछ दिखाई देता है, आनन्त-सा है और मैं ही ब्रह्म हूँ। जो कुछ परमहस लोग कहते रहे, सब सत्य था।"

(३२) निवेदन किया गया, "यह अवस्था आपको किस प्रकार प्राप्त हुई?" कहा—"यह तो आपको ज्ञात ही है कि मैं नित्यनियम के पश्चात् प्रायः गुरु ग्रंथ सहब का पाठ करता हूँ। एक पवित्र मुहूर्त्त में जो एकान्त मे पाठ कर रहा था, वह शास्त्रों का श्लोक जब मेरे पाठ में आया, तो यह अवस्था मुझ पर आच्छादित हो गई। अब प्रतिक्षण यही अवस्था विद्यमान है, जो मैं कुछ नहीं कह सकता।" अस्तु। इस विषय में कुछ बात-चीत होकर मैं लौट आया।

(३३) श्रीमान् दीवान महोदय के इस अवस्था में दर्शन करने का मुझ पर यह प्रभाव हुआ कि मुझ में दर्शनाभिलाषा की अग्नि अधिक प्रचण्ड हो गई, क्योंकि यद्यपि लगन प्रथम ही से अधिक थी, किन्तु साधुओं पर विश्वास नही आता था कि झूठ बोलते हैं, साक्षात् क्या होता था। अब जो दीवान महोदय ने प्रमाणित किया, तो यह विचार उत्पन्न हुए कि "मैं और दीवान महोदय दोनों साक्षात्कार के अभिलाषी थे, और पहिले दीवान महोदय भी मेरी तरह इनकार करते थे। अब वह प्रमाणित करते है और उनके दर्शन करने से उनके भीतर ब्रह्मदर्शन के आनन्द की गन्ध भी प्राप्त हुई है, इससे परमहंसों की वाणी सत्य है।"

(३४) फिर विचार किया गया कि श्रीमान् दीवान महोदय ने प्रायः कर्मकाण्ड में, जैसा कि गृहस्थ आश्रम में वेद-शास्त्रों की आज्ञा है, पूर्ण पालना की है, यही कारण है कि उनका अन्तःकरण पवित्र था, साक्षात्कार हो गया, और मेरा अवश्य अन्तःकरण मलीन है, इस कारण इतनी शास्त्र की शिक्षा प्राप्त होने पर भी यह अवस्था आच्छादित नहीं हुई। और स्वामीजी का वचन और उन महात्माओं की व्यवस्था भी स्मरण हुई कि मेरे रोग का निदान भी हो चुका है, किन्तु मैंने उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया है, इसपर कटिबद्ध होना चाहिये। फलतः मैंने फिर चाहते हुये या न चाहते हुये, अथवा जाने या अनजाने, विवश होकर अन्तःकरण में अहंग्रह-उपासना आरम्भ कर दी, और उपनिषदों का विचार आरम्भ कर दिया जैसा कि मुझे महात्माओं ने आज्ञा दी थी।

(३५) जब लगभग दो वर्ष के मैं इस उपासना और कृत्य में लगा रहा, वास्तव में उलटापन बहुत जीर्ण हो गया और घृणा जाती रही। एक दिन शुभ मुहूर्त्त में अकेला मैं पूर्ववत् यही छान्दोग्योपनिषद् जिसका अनुवाद अब होगा, विचार रहा था, ब्रह्मा के उपदेश में जो यह श्रुति इन्द्र के लिये उपदिष्ट है कि जो "यह नेत्र में दीप्तमान हो रहा है, यही आत्मा है", मानो अनुवादक के प्रति उपदेश था, मुझ पर तुरीय अवस्था आ गई और लगभग आध घंटा मैं शान्त, देश, काल, वस्तु परिच्छेद से रहित और परम ज्योति स्वरूप हो गया। तात्पर्य यह कि इस श्रुति के विचार में अज्ञान का आवरण मुझ पर से उठ गया और आत्मा का साक्षात्कार हो गया, और अहंब्रह्मास्मि का निश्चय हुआ।

(३६) जब मैं इस अवस्था से निकला, तो फिर उसकी चर्चा सुगम हो गई और उसी चर्चा में तत्काल वह दशा हो

गई। उस समय स्वामीजी का वह कथन ठीक ज्ञात हुआ कि "तेरी ही धारणा है।" परिच्छिन्न अहंता छोड़ दी, वरन् सभी वेदान्त-शास्त्र के सिद्धान्त जो तोते की तरह सीखे थे अनुभव हो गये, और पारदर्शिता हो गई।

(३७) अब इस लम्बे वर्णन का प्रयोजन यह है कि यह बात तो ठीक है, कि यद्यपि बिना शास्त्रीय विधान के अनुसार कर्म किये महावाक्य के श्रवण का अधिकारी नहीं होता, क्यों कि इस दशा में महावाक्य प्रभाव नहीं डालता, किन्तु जिस को साक्षात्कार की लग्न तीव्र हो और उलटापन दुर्बल हो और महावाक्य के अर्थ को भली भाँति समझ सकता हो और आत्मदर्शिता से श्रवण करे, या विचार के समय ठीक नियम से वह विचार प्राप्त हो, जो उसके भीतरी मिथ्या धारणाओं वा कल्पनाओं को उखेड़ दे, तो ऐसी दशा में इतने शीघ्र तुरीय-अवस्था हो जाती है कि पुष्प के मलने में तो देर लगती है, किन्तु आत्मसाक्षात्कार में देर नहीं होती। इसी कारण स्वामी-जी वादा करते थे कि कदाचित् आज के भाषण में हो जाय।

(३८) और जब मिथ्या कल्पनाओं की दृढ़ता होती है, तो प्रायः यावज्जीवन शास्त्र पढ़ते हैं, तुरीय अवस्था प्राप्त नहीं होती। परन्तु सिद्ध हुआ है कि बिना महावाक्य के श्रवण के तुरीय अवस्था प्राप्त नहीं होती, और इसका प्रमाण उपनिषद भाग के विचार से ज्ञात होगा।

(३९) इस हेतु कि अनुवादक को तुरीय अवस्था इसी छान्दोग्य उपनिषद से लाभ हुई है और इसी से आत्म-साक्षात्कार वास्तव में हुआ है, इसलिये उपनिषदों के अनुवाद में इसको प्रथम स्थान दिया गया है।

ॐ

आत्म-साक्षात्कार की कसौटी

संवत १६४० वि०

इसमें छान्दोग्योपनिषद के छठे अध्याय का अनुवाद है
जो अरुणी ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश किया है।

---

(४०) हम पुस्तक के आरम्भ में लिख चुके है कि हमको विधिपूर्वक शिक्षा से ठीक साक्षात्कार हुआ है, किन्तु सामान्य लोग हम में आपत्ति करते हैं और विश्वास नहीं करते। उसका कारण यह है कि उनमें यह अज्ञानजन्य भ्रान्ति विद्यमान है कि "पहिले तो ब्रह्म-दर्शन ही नहीं। यदि ऋषि मुनि साधु माहात्मा को होता भी है तो अष्टांग-योग के मार्ग से देवताओं के द्वारा होता है। और इस प्रकार के लोग अब कलियुग में हैं नहीं। अब भी यदि पूर्ण सद्गुरु रास्ता चलते मिल जावें, तो हाथ में हाथ देकर ही ब्रह्मदर्शन करादें। यदि अनुवादक को साक्षात्कार का अभिमान व दावा है, तो हमारा हाथ पकड़ कर ब्रह्मदर्शन करादे।"

(४१) हम उसके उत्तर में यह कहते है कि उनका यह विचार भ्रान्ति-पूर्ण है। कभी भी कोई गुरू ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ कि जो हाथ में हाथ देकर ब्रह्मदर्शन करादे, बल्कि सृष्टि के आरम्भ से आज तक सर्व स्वीकृत नियम यह चला आया है कि विधि पूर्वक शिक्षा-पद्धति से एक दूसरे को ब्रह्म-साक्षात्कार होता रहा है। इसका निश्चय वेद भगवान् की कसौटी पर हो

सकता है, इसलिये हम श्वेतकेतु के एक प्राचीन आख्यान का जो सामवेद में छान्दोग्य उपनिषद् के छठे प्रपाठक में लिखा है, अनुवाद करते हैं, जिससे ज्ञात होगा कि उसने अपने पिता अरुणि ऋषि से, जिन्हें उद्दालक ऋषि भी कहते हैं, शिक्षा द्वारा ही ब्रह्मदर्शन किया। यदि यही बात होती कि हाथ में हाथ देकर पूर्ण गुरू ब्रह्ममार्ग में पहुँचा दिया करते, तो उद्दालक भी अपने पुत्र के लिये वैसा ही कर सकता। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया, अपितु शिक्षा द्वारा नव बार महावाक्य का उपदेश दिया, तब उसे ब्रह्म साक्षात्कार हुआ। यही कारण है कि वेदान्तवेत्ता पुरुषों ने बारम्बार यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म साक्षात्कार महावाक्य के श्रवण से ही होता है। चाहे वह ज्ञानी मनुष्य से सुना जाय, चाहे देवता से, उसी को संस्कृत में श्रवण कहते हैं।

(४२) ऋषि-मुनियों में यही सिद्धान्त है कि श्रवण से ही आत्मसाक्षात्कार होता है जैसा कि श्वेतकेतु को अपने पिता अरुणि ऋषि से हुआ। अब उस घटना को कान धर कर सुनो।

(४३) हे प्रिय! सृष्टि के आरम्भ में एक श्वेतकेतु नाम का बालक ऋषि-कुल में उत्पन्न हुआ, जो अपने माता-पिता का बहुत प्यारा था और उनके दुलार के कारण ही शिक्षा से रहित होकर खेला कूदा करता था, इसलिये वह आवारा हो गया। इसी कारण से वह लड़कों के साथ व्यर्थ समय नष्ट किया करता था।

(४४) जब वह १२ वर्ष की आयु का हुआ, तो यज्ञोपवीत संस्कार से रहित रहा, क्योंकि ऋषि कुल में वह संस्कार शास्त्रीय विधान के अनुसार तभी होता है जब वह ब्रह्मचर्य करे। किन्तु वह पशुवत् आवारा था, इसलिये उसमें यज्ञोपवीत

संस्कार के योग्य गुण नहीं हो सकते थे। ब्रह्मचर्य वह पहिला शम दम है कि जिसमें विद्या वा ज्ञान सीखना पड़ता है।

(४५) उसकी आवारा गर्दी ऐसी अनुचित थी कि कभी तो वह घर में भोजन करता और कभी करता ही न था, वन में आवारा लड़कों के साथ दिन भर घूमा करता था। वह ऐसा दुष्ट स्वभाव निकला कि अपनी आयु के लड़कों, स्त्रियों और बूढ़े ब्रह्मणों को वरन् अबोली गौवों को व्यर्थ गाली-गलौज, छेड़-छाड़ और मार-पीट करके घरको भाग जाता था।

(४६) जब वह बारह बरस का हो गया, तब वह एक-बार किसी कारण से अपने पिता अरुणी ऋषि के पास गया और पिता के सन्मुख विनय पूर्वक खड़ा हो गया। पिता ने उसे आवारा और अशिष्ट समझ रक्खा था, उस समय जो इस में विनय और सौम्यता के लक्षण दृष्टिगोचर हुए, तो ऋषि ने समझा कि यदि इस समय मै इसको कुछ शिक्षा दूं तो कदाचित् प्रभाव कारिणी हो।

(४७) ऋषिजी ने कहा "हे पुत्र! तुम बचपन में लाडले थे, इसी कारण आवारा निकले, और यह दोष अपराध तुम्हारा नहीं वरन् पहिले तुम्हारी माता का है और फिर मेरा है, क्योंकि गाहस्थ्य नीति के अनुसार बच्चों के पालन में पहिले माता को उचित है कि तीन वर्ष तक बातचीत और खेल कूद में भी समुचित शिक्षा दे, वरन् वह बच्चे को लोरियाँ भी उसी प्रकार की सुनावे जैसी कि ज्ञानी विज्ञानी पुरुषों ने नियत की हैं। और जब वह बोलने लगे, तो उस समय उससे इस प्रकार बातचीत की जाय जिससे वह सुसभ्य हो जाये और बातचीत करने की सभ्यता सीख जाय। और खेल कूद के लिये उसे उतनी ही आज्ञा दे कि जिसमें उसका शारी-

रिक स्वास्थ्य ठीक रहे, वरन् इस प्रकार के खेलों में लगा दे कि जिससे सदाचरण और सभ्यता का तात्पर्य निकलता हो। किन्तु तेरी माता ने ऐसा नहीं किया, वरन् उस तरह लाड लडया जैसे कि कलियुग की ब्रह्माणियाँ अपने बच्चों का लाड करेंगी, वह यह ही समझा करेगी कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है। इसके हाथ में कुंगू की कटोरी है, जब युवा होगा दान-पुण्य बहुत आ जायगा। यदि सुसभ्य निकला तो क्या और असभ्य निकला तो क्या, भूखा रहता नहीं, ब्राह्मण समझ कर बिना कार किये मुफ़ती रोटियाँ आ ही जाती हैं। अच्छा, जीता रहे, आयु वाला हो। और तेरी माता पर ऋषिलोग आश्चर्य करते हैं कि वह कलियुग की ब्राह्मणी नहीं, वरन् सुसभ्या और शिक्षिता है, फिर वह किस प्रकार चूक गई कि तुमको लाडला रक्खा। निदान मोह, जिसका कारण अविवेक है, स्त्रियों, सुसभ्यों और शिक्षितों में भी रहता है. इस मोह में ग्रस्त हुई माता ने तुझको लाडला रक्खा, इसलिये हमारे सहवर्गी ऋषि तेरी माता का अपराध बताते हैं।

(४८) उसी नीति-शास्त्र में फिर यह लिखा है कि जब बच्चा तीन वर्ष से अधिक आयु का हो जाय, तो फिर पिता का कर्तव्य है कि वह उसको उचित शिक्षा दे, और उसको समाज में बैठने की सभ्यता, खाने पहिनने और बात करने की सभ्यता, सिखावे, और वर्ण-परिचय से लेकर शब्दोच्चारण पर्यन्त सिखावे और यह सब शिक्षा माता पिता बच्चे को आठ वर्ष की आयु तक दे दे। किन्तु ऋषि होने पर भी मैंने ऐसा नहीं किया, यद्यपि मैं इस बात को जानता भी था। कारण यह कि मुझे निर्विकल्प समाधि में प्रवृत्त रहने से ऐसा अवकाश न मिला। तब भी ऋषिगण मुझमें उसी मोह को आरोपण करके लांछन

लगाते हैं, और वस्तुतः यह सब मुझ पिता का अपराध है, बच्चे ! तेरा अपराध नहीं ।

(४६) उसी नीति शास्त्र में फिर यह लिखा है कि आठ वर्ष की आयु के बाद यज्ञोपवीत-संस्कार करके ब्रह्मचय के नियमानुसार बच्चे को गुरुकुल में प्रविष्ठ कराया जाय, और सोलह वर्ष की आयु तक फिर गुरु का कर्तव्य है कि उसको शिक्षा दे, और ताड़ना भी करे । सोलह वर्ष के बाद फिर शिक्षा की समाप्ति हो जाती है, किन्तु इतनी आज्ञा फिर भी दी है कि यदि इस आयु तक भी बालक उत्तीर्ण न हो और पिता या गुरू उसको फिर भी शिक्षा के योग्य समझें तो शिक्षा दें, किन्तु फिर ताड़ना और कठोरता से शिक्षा न दें, वरन् जैसे मित्र को चेतावनी के रूप में उपदेश किया करते हैं उसी तरह शिक्षा दे, छड़ी या दण्ड से शिक्षा न दें ।

(५०) हे प्रिय पुत्र ! अब तुम बारह वर्ष की आयु में हो गये हो, केवल चार वर्ष अब तुम्हारी शिक्षा के लिये शेष हैं, और इसी कारण तुम्हारा यज्ञोपवीत-सस्कार भी नहीं हुआ । हमारे ऋषि कुल में आठ वर्ष की आयु में यह संस्कार हो जाया करता है । और यह जो सब कुछ हुआ, हम माता पिता के मोह के कारण हुआ । मोह के कारण तुम पर कठोरता नहीं की, इसी से तुम ऐसे आवारा हो गये जैसे कि आवारा सांड फिरा करता है ।

(५१) हे पुत्र ! सन्तान, शिष्य और स्त्री को यदि लाड के कारण शिक्षा न दी जाय तो उनमें नीचता, कुसंस्कार दुराचरण और दुष्टता उत्पन्न हो जाती हैं । और उनमें शिक्षा के कारण तथा ताड़ना और कठोरता के कारण सभ्यता, सदाचरण, सौम्यता, बुद्धिमत्ता, वीरता, विनयशीलता, और गुणज्ञता

उत्पन्न होते हैं। यह जो नीति-शास्त्र में लिखा है यह मिथ्या नहीं है, वरन् सत्य है, और इसका प्रमाण या उदाहरण तुम ही हो, जो हमारे ऋषि-कुल में उत्पन्न होकर भी निकम्मे निकले।

(५२) हे पुत्र! ऋषियों का यह कथन है कि जो माता पिता अपनी सन्तान को मोह के कारण लाड प्यार करते हैं और उनकी शिक्षा नहीं करते वह माता पिता वास्तव में अपनी सन्तान के शत्रु ही हैं, क्योंकि उस दुलार के कारण सन्तान में जोउपर्युक्त दुष्टगुण उत्पन्न हो जाते हैं वह लोक और परलोक की सत्यानाशी (बरबादी) का हेतु हो जाते हैं। इस लोक में जो उसको शूद्रों की पंक्ति में स्थान मिलता है और वह गधा तथा बैल इत्यादि पशुओं की भाँति मजदूरी और बोझा ढोने के काम में लाया जाता है और परलोक में नरक में प्रविष्ट होता है।

(५३) हे पुत्र! जो लड़का अपने माता-पिता का उपदेश नहीं ग्रहण करता और शिक्षा-रहित रहता है, जब वह युवा हो जाता है, तो संसार में उसको राज्याधिकारियों का भय होता है, क्योंकि फौजी लोग उसको निर्गुण और अज्ञानी समझ कर बेगार में पकड़ लेते हैं और यदि वह अबोध होने के कारण राज्य-नियम के विरुद्ध होता है तो मैजिस्ट्रेट उसको वारण्ट से पकड़ लेता है और जब तक उसकी जांच-पड़ताल होती है वह हवालात में रहता है। यदि अपराध सिद्ध हो गया, तो उसे जेलखाने में क़ैद करता है और मृत्यु के पश्चात् यमदूत उसको पकड़ कर धर्मराज के सामने ले जाते हैं और नरक में बन्दी होता है। इसकारण मूर्ख को लोक-परलोक में कष्ट, दुख और शोक के सिवाय कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

(५४) हे पुत्र! हम ऋषियों के कुल में इतना जेलखाने

का भय नहीं जितना कि नरक का भय है। क्योंकि जेलख़ानों में प्राय: राजा लोग सफाई और सजावट रखते है और उचित आहार भी देते हैं, केवल शिर और मुँह मुँडवाकर पैर में जंजीर डाल कर कड़ी मिहनत करना जेलखाने का कष्ट है, किन्तु नरक में यमदूत सफाई नहीं रखते वरन् उलटे मल, अग्नि और पीप की कोठरियाँ रखते है और जैसा-जैसा पापी होता है, वैसी-वैसी मल की कोठरियाँ अथवा अग्निमय कोठरियों में ले जाते है। इसलिये इसका ऋषिकुल में अधिक भय है।

(५५) ऋषिकुल में भी जो हमारा उत्तम कुल है, इतना भय नरक का नहीं है जितना मूर्खता और अज्ञान का। क्योंकि श्रुतिभगवती आत्महत्यारे को नरक का भय नहीं देती, वरन् सूर्य रहित अंधतम लोक का भय देती है। अर्थात् जो लोग अपने आत्मा को नहीं जानते, वही अपने आत्मा के हंता हैं। और आत्महत्या का पाप यही है कि वह अन्धतम अर्थात घोर अन्धकार में रहते है। अत: अन्धतम लोक अर्थात् अज्ञान का भय हमारे मुख्य कुल में सबकी अपेक्षा अधिक है और तुम अभी जीवित ही अज्ञान में हो। शोक है कि मुझ जैसे उद्यालक ऋषि का पुत्र अविद्या नरक में ग्रस्त है। कदापि ऐसे अज्ञान में न रहो, शीघ्र यज्ञोपवीत-संस्कार को करके ब्रह्मचर्य और विद्या को उपार्जन करो।

(५६) हे पुत्र ! नीति शास्त्र की विधियों की उपेक्षा करके वरन् पुत्र-मोह में ग्रस्त होकर इतना हमने तुमको लाड किया कि जिसके कारण तुम १२ वर्ष की आयु तक भी संस्कार रहित, अनाचारी, निकृष्ट ब्राह्मण से हमारे कुल में दिखाई देते हो। किन्तु अब मैं मोह और प्रेम को त्याग करता हूँ और तुमको सचेत करता हूँ कि तुम शीघ्र ब्रह्मचर्य आश्रम को प्राप्त हो।

(५७) मुझ पर उचित है कि मैं स्वयम् तुम्हारा उपनयन-संस्कार करके तुमको शिक्षा दूँ किन्तु मैं देखता हूँ कि जिस मेरे मोह के कारण तुम इतने समय तक अशिक्षित रहे हो, कदाचित् मैं अधिक ताड़ना न कर सकूँ और शिक्षा की अवधि बहुत ही अल्प रह गई है और फिर तुम भी मुझ पर अधिक भरोसा नहीं रखते और बिना भरोसे विद्या का सीखना वैसा ही है जैसा कि राख में हवन करना।

(५८) उचित प्रतीत होता है कि तुम किसी दूसरे आचार्य से जिस पर तुम्हारा भरोसा हो उपनयन-संस्कार करके विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य के कृत्य को पूरा करो, जिससे कि तुम हमारे ऋषिकुल की श्रेणी में रहो।

(५९) हे प्रिय! इस आयु में भी यदि तुम ब्रह्मचर्य आश्रम के विधानों को पालन करके वेद विद्या नहीं प्राप्त करोगे, तो इस लोक में नरक से बढ़कर दुःख पाओगे, क्योंकि तुम हमारे उत्तम कुल से च्युत हो जाओगे। और तुम्हारी अपकीर्ति होगी कि यह ब्राह्मण उत्तम कुल से पतित हुआ है। और हमारे कुल में जो तुम पतित उत्पन्न हुए हो, इस कारण हमारे पूर्वजों की भी, जो श्रेष्ठ चले आये हैं, अपकीर्ति होगी और पूर्वजों की अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर है, क्योंकि अपकीर्ति की अपेक्षा मृत्यु अच्छी है। इसलिये जाओ, हमारे घर से चले जाओ। दूसरे आचार्य के पास विद्या प्राप्त करो।

(६०) हे प्रिय! जब उद्यालक ऋषि ने अपने प्रिय पुत्र श्वेतकेतु को इस प्रकार उपदेश किया और उचित भर्त्सना दी तो श्वेतकेतु ऋषि ने विचार सोच किया जिसका फल यह निकला कि वह अपने पिताजी की आज्ञानुसार दूसरे देश को चला गया और किसी वेद-वेत्ता ब्राह्मण से उपनयन-संस्कार को प्राप्त करके

ब्रह्मचर्य आश्रम धारण करता हुआ, वेद और वेदाङ्ग भली भांति पढ़ लिया, किन्तु उसको आत्मा का साक्षात्कार न हुआ।

(६१) कुछ समय तक इस नवयुवक ने शास्त्राज्ञानुसार जप तपादि व्रतों का पालन किया। और अष्टांगयोग, षटशास्त्र और चारों वेद, व्याकरण आदि षडांगों सहित प्राप्त कर लिये। इसके अतिरिक्त विज्ञानशास्त्र, ज्योतिष, गणित और न्याय-दर्शन का ज्ञान भी भली भाँति प्राप्त कर लिया, किन्तु उस को ब्रह्म-साक्षात्कार न हुआ और अधिकार समर्पण अर्थात् स्नातक का प्रमाणपत्र पाकर घर लौट आया।

(६२) चूँकि इस नवयुवक को अल्प समय में ही विद्या प्राप्त होगई इसलिये इसमें विद्या के अभिमान के कारण इसके ब्रह्मदर्शन में आवरण उत्पन्न हो गया। अब इस अभिमान के कारण जो-जो विचार इस नवयुक में उत्पन्न हुये, वह वर्णन के योग्य है।

(६३) ऐ प्यारे ! यद्यपि इस नवयुवक के जप, तप, और व्रत शास्त्रीय नियम के अनुसार पूरे हो गये और अष्टांगयोग के कारण वर और शाप में यह समर्थ भी हो गया, किन्तु दोष यह हुआ कि इसमें एक विद्या-अभिमान और गुणत्व-घमण्ड रूपी महाविष उत्पन्न हो गया, जिसकी सन्तान इसके अंतःकरण में नीचे लिखे ब्योरे के अनुसार उत्पन्न हो गई। पहले इसे यह ख़याल हुआ कि "अब मैं विद्यावान और बुद्धिनिधान हो गया हूँ, अब मैं सबसे उत्तम हूँ। और सर्वोत्तम मैं इसलिये हूँ कि मैं अपने बराबर के सब विद्वानों से विशेषता रखता हूँ और विद्वान् ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ में मैंने निरन्तर विजय प्राप्त की है। मैं निश्चय करता हूँ कि मेरे कुल में पहले कोई ऐसा बुद्धिमान विद्वान्

नहीं हुआ होगा। क्योंकि मैंने अपने पिता से भी अधिक विद्या सीखी है। हमारे कुल में यदि ऐसी विद्या होती तो उत्तरोत्तर हमारे पिता को भी होती। पर हमारे पिता के पास पूरी विद्या नहीं है, क्योंकि यदि उनके पास पूरी विद्या होती, तो मुझ जैसे प्रियतम पुत्र को दूसरे गुरू की खोज के लिये क्यों आज्ञा देते। वरन् एक यही तर्क यथेष्ट है कि मैं अपने पूज्य पिता से भी बढ़कर विद्वान् हो गया हूँ।"

(६४) "फिर इस कारण कि मेरे गुरु मेरी बुद्धि की प्रशंसा और गुणगान भी करते हैं और साथ इसके मैंने अत्यल्प-काल में जो समस्त वेद शास्त्रों में पारदर्शिता प्राप्त करली है, मेरी बुद्धि की तीक्ष्णता का पूर्ण प्रमाण है, और मेरे पिता ने शिशु-काल के आरम्भ से ही विद्या अध्ययन की है और बहुत काल में विद्या प्राप्त की है, इसलिये बुद्धिमता में भी मैं पिता से अधिक हूँ।"

(६५) "फिर क्योंकि मुझको याद पड़ता है कि सामान्य प्रमाणपत्र के अतिरिक्त एक बार एकान्त में हमारे गुरु ने शपथ-पूर्वक कहा था कि जितनी मेरी विद्या थी, तुम ही शिष्य को पूरी-पूरी प्राप्त हुई है, दूसरे शिष्य को नहीं मिली, और इससे अधिक कोई विद्या हमारे पास नहीं है, इससे भी परिणाम निकलता है कि मैं अरुणी पिता से अधिक विद्वान हो गया हूँ।"

(६६) "यह कोई बन्धन नहीं कि पुत्र पिता से अधिक विद्वान नहीं हो सकता, वरन् कभी-कभी ऐसा हुआ है कि पुत्र पिता की अपेक्षा अधिक विद्वान् हो जाता है। देखो, शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति में यह कथा प्रसिद्ध है कि वृहस्पति का पुत्र रज नाम ब्राह्मण जिसको शास्त्र में सञ्जय नाम से भी

बोलते हैं अपने पिता बृहस्पति से अधिक विद्वान् हुआ हैं, क्यों कि रज ब्राह्मण शुक्राचार्य से संजीवनी विद्या भी सीख आया था, और अपने पिता बृहस्पति तथा अन्य देवताओं को फिर उसने यह संजीवनी विद्या पढ़ाई। इससे अब मैं अपने पिता से अवश्य अधिक विद्वान हो गया हूँ।"

(६७) हे प्यारो! इस प्रकार के बाह्य विचारों और कल्पनाओं के कारण श्वेतकेतु को बड़ा अहंकार उत्पन्न हो गया। और इस अहंकार के कारण जब घर आया, पिता के चरणों को भी नहीं छुआ, वरन् स्तम्भ (खंभे) की तरह पिता के सामने आ खड़ा हुआ। अरुणी ऋषि ने जब उसको घमंड-पूर्ण देखा, विनय और शिष्टाचरण से रहित पाया, जान लिया कि विद्या का फल इसमें कुछ नहीं हुआ, वरन् उलटा विकार हो गया।

(६८) ऋषिजी अत्यन्त धीर स्वभाव और विशाल चित्त थे। उसके विनय रहित व्यवहार और प्रणामादि न करने पर क्रुद्ध और रुष्ट नहीं हुए, वरन् उसकी सभ्यता और लाभ के लिये ऐसी भूमिका से प्रश्न किया जिससे उसका विद्या-भिमान वायु की तरह उड़ गया। और जब वह विद्याभिमान का ज्वर उसके मस्तिष्क से निकल गया, तो उसने जान लिया कि मैं पिता की अपेक्षा हीन व तुच्छ हूँ और वह प्रश्न यह था—

(६९) "ऐ श्वेकेतु! जिस उन्नति के घमंड से तू चार वेदों का विद्वान् होना मान रहा है, और जिस उन्नति के अभिमान से तू सब विद्वानों पर घमण्ड कर रहा है, और जिस उन्नति के अहङ्कार से तूने माता-पिता को प्रणाम भी नहीं किया, वरन् मुझसे ऊँचे स्थान पर आ खड़ा हुआ है, वह तुझ में क्या

उन्नते हुई है, मुझ पर प्रकट करो कि यथार्थ है व अहंकार मात्र है।"

(७०) "ऐ श्वेतुकेतु! समस्त वेद और समस्त लौकिक विद्याएँ जिस गुरु से तुमने पढ़ी हैं, उससे कभी यह प्रश्न भी किया है कि वह एक वस्तु क्या है जिसके सुनने से समस्त अनसुनी वस्तुएँ सुन जाती हैं, और समस्त अज्ञात वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं और समस्त नहीं सोची हुई वस्तुएँ अपने आप सोची हुई हो जाती हैं।"

(७१) श्वेतकेतु ने कहा—"ऐ पिता! यह प्रश्न ही आपका व्यर्थ है, क्योंकि सम्भव ही नहीं कि एक वस्तु के ज्ञान से अपने आप समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाय, और एक वस्तु के श्रवण से समस्त वस्तुओं का अपने आप श्रवण हो जाय, और एक वस्तु की चिन्ता से समस्त वस्तुओं को अपने आप चिन्ता हो जाय।"

(७२) ऋषि ने कहा—क्यों सम्भव नहीं, वरन् यह तो अवश्य सम्भव है। देखो, जब मिट्टी का ज्ञान हो जाता है तो समस्त मिट्टी के वर्तनों का ज्ञान अपने आप हो जाता है कि वास्तव में सब मिट्टी के वर्तन मिट्टी ही हैं, और वैसे ही लोहे के ज्ञान से समस्त लोहे के शस्त्रों का ज्ञान अपने आप हो जाता है कि समस्त यंत्र वास्तव में लोहे ही हैं, और वैसे ही सुवर्ण के ज्ञान से सुवर्ण के समस्त आभूषणों का अपने आप ज्ञान हो जाता है कि वास्तव में वे सुवर्ण ही है।

(७३) ऐ पुत्र! यह तो एक साधारण तत्व-शास्त्र से स्वतः सिद्ध है कि जिसको उपादान कारण का ज्ञान हो जाय वह उस कारण के समस्त कार्यों से अपने आप परिचित हो जाता है। जैसे यदि वच्चे से भी यह प्रश्न किया जाय कि सोने के

आभूषण सोना है या नहीं और मिट्टी की वस्तुएँ मिट्टी हैं या नहीं और लोहे के औजार लोहा हैं या नहीं, तो मैं विश्वास करता हूँ कि हमारे ऋषिकुल के पंच वर्षीय बालक भी बतला देंगे कि वास्तव में मिट्टी के बर्तन मिट्टी ही होते हैं और सुवर्ण के आभूषण सुवर्ण ही होते हैं और लोहे के औजार लोहा ही होते हैं।

(७४) जब कि हमारे ऋषिकुल में पाँच वर्ष के बच्चे तक निश्चय करते हैं कि मिट्टी के बर्तन मिट्टी ही होते हैं और सुवर्ण के आभूषण सुवर्ण ही होते हैं और लोहे के औजार लोहा ही होते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपादान कारण के ज्ञान से उसके कार्यों का अपने आप ज्ञान हो जाता है। आश्चर्य है कि तुमको इस प्रत्यक्ष वा स्वतः सिद्ध शास्त्र से भी खबर नहीं, तो विज्ञान शास्त्र का भला क्या ही ठिकाना है।

(७५) ऐ प्यारो! जब श्वेतकेतु ने ब्रह्मविद्या के आचार्य से यह व्याख्यान सुना, तो उसने विचार किया और जान लिया कि वास्तव में पिताजी ठीक कहते हैं और अपने मन में लज्जित हुआ कि यद्यपि मैं देखने में विद्वान् पंडित हूँ किन्तु इस समय मैं अपने पूज्य पिताजी के सम्मुख पाठशाला के शिशु के समान भी नहीं हूँ। क्योंकि जिस स्वतः सिद्ध शास्त्र को पिताजी ने पूछा, मुझसे उसका उत्तर भी नहीं आया, और हमारे ऋषिकुल के नाबालिग़ बच्चे भी उसको जानते हैं। इस लिये अब मालुम हुआ कि हमारे कुल में उच्च कोटि की शिक्षा चली आती है, और जिस ऋषिकुल की शिक्षा मैंने पाई है वह तुच्छ है। उसी समय पिताजी के चरणों पर गिर पड़ा और अत्यन्त नम्रता पूर्वक उस ने अपराधों की क्षमा माँगी।

(७६) ऋषिजी ने कहा—"ऐ पुत्र! अब बताओ, तुमने

कभी अपने गुरु से यह भी पूछा है कि इस समस्त चर अचर जगत का उपादान कारण क्या है, जिसके ज्ञान से ये सब स्थूल-सूक्ष्म, शारीरिक-आत्मिक, लौकिक-पारलौकिक, द्यौ और ब्रह्मलोक का भी अपने आप ज्ञान हो जाता है। यदि पूछा है और तुमको मालुम है तो हमको बतलाओ कि हम मालुम करें ठीक बतलाया है या नहीं।"

(७७) श्वेतकेतु ने निवेदन किया—"हे पिताजी ! न मैंने कभी अपने गुरुजी से इस प्रकार का प्रश्न किया और न उन्होंने मुझको बतलाया।"

(७८) ऋषिजी ने कहा—"यदि तू इस जगत के उपादान कारण को जान लेता, तो वास्तव में द्यौ लोक, ब्रह्मलोक, देवता, समुद्र, पृथिवी और दिशाओं का ज्ञाता और पंडित हो जाता। उस समय समस्त विद्वानों से विद्वान् और पंडितों से पंडित हो जाता। निस्सन्देह उस समय तुझको अभिमान और गर्व उचित था। पर ऐसी दशा में जब कि तुझको उस कारण का किंचित भी ज्ञान नहीं, वरन् मानसिक व मानुषी विद्या को ही प्राप्त किया है जो बिलकुल उलटी और तुच्छ है और कुछ लाभ नहीं रखती, ऐसा अभिमान और गर्व उचित नहीं। जल्द लौट जा, अभी तुझको ज्ञान की खानरूप वेद भगवान् से कुछ नक़द नहीं मिला है। तू बिलकुल हाथ ख़ाली है, जा अपने गुरु से इस प्रकार का प्रश्न कर। यदि वह उस वस्तु को जो हमने बतलाई है जानता है, तो मालुम करके जल्दी मेरे पास लौट आना।"

(७९) श्वेतुकेतु ने शत-शत प्रणाम करके निवेदन किया—"हे पिताजी ! मुझको विश्वास है कि यह विद्या मेरे गुरु को नहीं मालुम, क्योंकि मैं गुरुजी का अत्यन्त प्रिय पात्र था, इसलिये

कि मैं आप के कुल का ब्राह्मण बड़ा बुद्धिमान लड़का था, मेरे समान और कोई लड़का गुरुकुल में नहीं था, मेरी बुद्धिमता के कारण गुरुजी मुझको सबसे प्रिय समझते थे, और समस्त विद्या मुझको पढ़ा देते थे। जब उन्होंने कहा कि अब मेरे पास जितनी विद्या थी, सब तुझको पढ़ा दी है, तब मैं घर को आया हूँ, अब मेरा लौट जाना व्यर्थ है। उनको यह विद्या कभी स्वप्न में भी नहीं आई। यह विद्या आप के पास है और मैं आपका पुत्र हूँ और अब भक्ति और श्रद्धा से आपका शिष्य होता हूँ। मुझ शिष्यको वह विद्या पढ़ा दीजिये जिसके ज्ञान से सब का अपने आप ज्ञान हो जाता है, और जिसके सुनने से सब (अनसुना भी) सुना जाता है और जिसको सोचने से सब सोचा जाता है।"

(८०) जब श्वेतकेतु को ऋषिजी ने अहंकार, घमंड और अभिमान से शून्य कर दिया, और वह ऐसा हो गया जैसा कि एक आधीन, सरल स्वभाव और भोला-भाला होता है, और साथ इसके अपने ऊपर उसका विश्वास भी देखा, तब उसको ब्रह्मविद्या का अधिकारी जानकर कहा—"ऐ मेरे प्रिय पुत्र! पहले तुम उसी प्रसिद्ध नियम पर जो हमारे कुल में सामान्य बच्चे भी जानते हैं, यह विश्वास करो कि कार्य ठीक उपादान कारण होता है, और उसी में वही तीन उदाहरण स्मरण करो कि जैसे सुवर्ण के भूषण सुवर्ण ही होते हैं, मिट्टी के बर्तन मिट्टी ही होते हैं और लोहे के औजार सब लोहा ही होते हैं, वैसे ही इस समस्त सूक्ष्म-स्थूल प्रपंच अर्थात् आध्यात्मिक और आदि-भौतिक जगत का उपादान कारण केवल तीन ही है, और वह पृथ्वी, अग्नि, जल है। अत. यह समस्त जगत पृथ्वी, जल और अग्नि रूप ही है। और फिर उन्हीं उदाहरणों के अनुसार उन

तीनों पृथ्वी, अग्नि और जल को कार्य जानकर, उसका उपादान कारण परमात्मा में देखता हुआ, उनको भी परमात्मरूप ही जानो। उनसे बाहर कोई वस्तु नहीं है।"

(८१) ऐ श्वेतकेतु! मिट्टी के वर्तन (कूज़ा प्याला चीनी) मिट्टी से अधिक वस्तु कुछ नहीं, केवल उनका नाम ही रक्खा जाता है, वास्तव में मिट्टी के अतिरिक्त वह कुछ सत्ता नहीं रखते, वरन् मिट्टी की असलियत के विना वह असत वा मिथ्या ही हैं। इसलिये उनका नाम ही लिया जाता है और वास्तव में विचार कर देखिए, तो वह मिट्टी मात्र हैं। इसी कारण यह भी नहीं कहा जाता कि मिट्टी उनकी रचना करती है, क्यों कि मिट्टी मिट्टी की रचना नहीं कर सकती। अगर कहा जाय कि मिट्टी, मिट्टी की रचना करती है, तो यह ऐसा वचन है जैसा कि कि कोई निश्चय करे कि अपने आपको आप ही रचता है। और ऐसा निश्चय लड़के किया करते हैं, जैसा कि हमारे कुल के छोटे-छोटे खेल कूद में कहा करते हैं, देखो हम आपही खड़े होते हैं और आप ही बैठ जाते हैं, हम अपनी रचना आप ही करते हैं, और यह उनका विलास और खेल नाममात्र या केवल शब्द रूप ही है, और इसी को बुद्धिमान लोग लड़कों का खेल कहा करते हैं। अतः तर्क-शास्त्र के वेत्ता जो सोचते या मानते है कि "बर्तन की मिट्टी से भिन्न रचना होती है" वह बेचारे हमारे ऋषिकुल के लड़कों का सा खेल खेलते हैं, कोई बुद्धिमानी नहीं करते। इसी कारण हम उनको इस ब्रह्मविद्या की पाठशाला का शिशु समझते हैं।

(८२) बेचारा तर्क-शास्त्र का विद्वान्, जो ब्रह्म विद्या की पाठशाला का शिशुमात्र है, जब बर्तनों को मिट्टी से पृथक् समझता है, तो अपनी समझ की दृष्टि से ही उनको मिट्टी

से भिन्न कल्पता है। और इस समझ की असलियत वास्तव में वह कल्पना है कि जो साधारण बुद्धि में पाई जाती है, क्योंकि "जब मिट्टी अभी पिण्ड की आकृति में पड़ी थी जिससे कुम्हार बर्तन उतारता है, तो उस सूरत में वह पानी का बर्तन नहीं हो सकती थी, और जब कुम्हार ने उस पिण्ड से बर्तन उतार लिये तो फिर वह बर्तन पानी के हो सकते हैं, इसलिये वह बर्तन माटी से पृथक हैं," इस प्रकार की कल्पना जो तर्क से तार्किक करता है, उसी प्रकार की कल्पना है जैसा भ्रान्त पुरुष चमकती हुई वालुका में जल का प्रवाह कल्पना करता हुआ उसका नाम मृगतृष्णा का जल रखता है। वास्तव में विचार पूर्वक देखें तो वह खयाल और सोच केवल काल्पनिक और आरोपित ही हैं। परन्तु जिस प्रकार भ्रान्त पुरुष या मृग रेत में जल का खयाल व भ्रम करता है कि इस मरुस्थल में जल का प्रवाह है, इसी तरह तर्कशास्त्र का विद्वान् मिट्टी में बर्तनों को पृथक समझता है, किन्तु स्थिर बुद्धि से विचार कर देखिये तो जैसे वह काल्पनिक जल मरुस्थल में अवस्तु मात्र है, इसी तरह खयाली बरतनों की माटी से भिन्नता खयाल मात्र है। बाह्य में मिट्टी के अतिरिक्त कुछ विद्यमान नहीं। और स्पष्ट है कि अकेला मस्तिष्क जब खयाल करता है, तो खयाल कहलाता है, और जब सोचता या समझता है, तो सोच या समझ बोला जाता है, किन्तु वास्तव में दोनों मस्तिष्क ही है, और उनका परिवर्तन केवल खयाली या मानसिक होता है। अतः जब रेत भ्रान्त दशा में मस्तिष्क वा बुद्धि को परिवर्तन देता है, तो खयाल कहा जाता है, और मिट्टी जब व्यवहार दशा में बुद्धि को परिवर्तन देती है, तो सोच या समझ कहा जाता है। और यह जो व्यवहार बुद्धि में आता है, उसी प्रकार

का रहस्य है जैसा कि स्वप्नकाल में बुद्धि में ऐसा ही व्यवहार सिद्ध होता है, और जाग्रत काल में यही बुद्धि आज्ञा करती है कि निद्रा में केवल रूपोंका रूपों से ही बर्ताव था, वास्तव में कुछ नहीं था, वैसा ही मिट्टी में जो जाग्रत् काल में बर्तन उतरते हैं, एक रूप से ही दूसरे रूप निकलते हैं, और उसी तरह बर्ताव करते हैं, जैसा कि वह नींद में करते हैं, वास्तव में मिट्टी से अतिरिक्त वस्तु की कुछ रचना नहीं होती, क्योंकि मिट्टी की सत्ता के अतिरिक्त उनकी वास्तविकता केवल काल्पनिक रूप है, इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस कारण मिट्टी से बर्तनों को पृथक् मानने वाला तर्क शास्त्र भी भ्रान्त शास्त्र ही जानना चाहिये। हमारे ऋषिकुल के तो बच्चे भी जानते हैं कि माटी के बर्तन माटी ही होते हैं। ऐसे विद्वानों को तो हमारे लड़कों जैसी भी बुद्धि नहीं। इस तर्क-शास्त्र के अभिमान से तुम अहङ्कार में चूर थे, जिसने तुमको उलटा भ्रम दिया है, और तुम अपने ही काल्पनिक विचार को ठीक मानकर श्रुति भगवती के विरोधी हुये हो। विकार कवल नाम मात्र है, मिट्टी ही सत है। श्रुति भगवती तो स्पष्ट आज्ञा देती है कि—

"वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"

अर्थात् नाम और विकार केवल वाणी मात्र है, मिट्टी ही सत्य है।

(८३) ऐ प्रिय पुत्र! जिस प्रकार स्वप्न में केवल आकृतियाँ ही बुद्धि को व्यवहार देती है, उसी तरह मिट्टी से बर्तन उतरते समय मिट्टी में से मानसिक वा ख़याली आकृतियाँ ही उतरती व्यवहार या बर्ताव करती है, कि यह घट है, यह प्याला है, यह चीनी है, यह हँडिया है, इत्यादि। विचारकर देखिये तो यही समग्र है कि मिट्टी के बर्तन मिट्टी ही हैं, मिट्टी के अतिरिक्त केवल काल्पनिक नाम ही हैं, और मिट्टी ही सत्य है।

अतः श्रुति भगवती की आज्ञानुसार तुम भी मिट्टी को ही सत्य जानो और वर्तनों की रचना उसमें वही हमारे वालकों का खेल और विलास मिट्टी का समझो। पर खेल या विलास खिलाड़ी वालकों के स्वरूप से भिन्न नहीं, क्योंकि देवदत्त खड़ा है और देवदत्त वैठा है, यह अवस्था देवदत्त की देवदत्त से भिन्न नहीं वल्कि ठीक देवदत्त ही है जैसे देवदत्त जब खड़ा होता है, तव भी देवदत्त ही कहा जाता है, और जब देवदत्त वैठ जाता है तव भी देवदत्त ही होता है। इस उठक-वैठक में देवदत्त कुछ दूसरा नहीं हो जाता। और खड़ा होने तथा वैठने की दशाएँ काल्पनिक या मानसिक आकृतियां ही हैं जो देखने, वाले के मस्तिष्क में आती हैं और देवदत्त के विलास के कारण मस्तिष्क में आकृतियां उसी प्रकार दिखाई देती है जैसा कि नींद में भी देखने वाले पर आकृतियों के वाद आकृतियाँ दिखाई देती हैं। अतः मिट्टी में से वर्तनों का उतरना वैसा ही विलास मिट्टी का है जिससे देखने वाले के मस्तिष्क में वर्तनों की आकृतियाँ दिखाई देती हैं, वास्तव में वह मिट्टी ही वाहर मे विद्यमान सत्य है, और वर्तनों की आकृतियों का जो मस्तिष्क पर विलास होता है, वह असत मात्र और नाम मात्र ही है।

(८४) ऐ प्रिय पुत्र श्वेतकेतु! जव कुम्हार मिट्टी से वर्तन की रचना करता है, तो पहले मिट्टी का पिण्ड अर्थात् गोला वनाता है, उस समय मिट्टी में गोले की आकृति मस्तिष्क या खयाल में दिखाई देती है, और इस आकृति से आकारवान् मिट्टी को देखता हुआ पुरुष उसका नाम पिण्ड वोलता है। फिर जव कुम्हार उस मिट्टी के गोलाकार पिण्ड से वर्तन उतारता है, तो प्याला, कूज़ा, चीनी, हँडियाँ इत्यादि नाना-रूप लगातार उस मिट्टी के पिण्डाकार से दिखाई देते हुए वही

अकेली मिट्टी अनेक आकृतियों से मस्तिष्क या खयाल में दिखाई देती है, और उसी मिट्टी का नाम प्याला, क़ूज़ा, चीनी, हँड़िया इत्यादि संज्ञा वही देखने वाला रख लेता है। विचार कर देखिये तो ये सब (आकृतियाँ, प्याला और क़ूज़ादि) अकेली मिट्टी के पिण्डाकार में लय थीं और इसी तरह फिर उसमें से वियुक्त हुई है जैसा कि स्वप्न के समय एक आकृति से अनेक आकृतियाँ निकलती हैं। इससे ज्ञात हुआ कि मिट्टी के बर्तन वस्तुतः मिट्टी के अतिरिक्त काल्पनिक आकृतियाँ हैं, और वाह्य में मिट्टी ही में सत्य है।

(८५) कुम्हार जब मिट्टी के बर्तन उतारता है और मिट्टीके पिण्ड से आकृतियों पर आकृतियाँ जो कूज़ा, प्याला की मिथ्या सूरत में विद्यमान हो जाती हैं, इन्हीं भिन्न २ आकृतियों से आकारवान अकेली मिट्टी को यह तर्कशास्त्र भिन्न-भिन्न मिट्टी मानता है। यद्यपि मिट्टी अकेली अविभक्त है, क्योंकि जिस प्रकार मिथ्या आकृतियाँ उस पिण्ड से निकलती है, उसी तरह उन आकृतियों का मिथ्या विभाग भी उसी पिण्ड से निकलता, मिथ्या आकृतियों को ही भिन्न-भिन्न दिखाता है, वास्तव में वह अन्तर इन्हीं मिथ्या आकृतियों के गुण या आकार का है, मिट्टी उससे विकारवान् नहीं, तो भी मिट्टी को उसी आकृति से आकार वाली मानता हुआ वह तर्कशास्त्र आकृतियों के गुण को भी मिट्टी के गुण देखता है, और यह चूक व भूल मात्र है।

(८३) शास्त्रकारों का यह सर्व माननीय सिद्धान्त है कि जो गुण गुणी में आ सम्मिलित होता या दिखाई देता है, यदि किसी कारण से गुणी में वह अप्रविष्ट सिद्ध हो, तो वह गुण वास्तव में किसी दूसरे के गुण का प्रवेश व आभास होता है। और यह स्पष्ट है कि उन बर्तनों के तोड़ने से मिट्टी में, जो गुणी

है, अन्तर या विभाग अन्तर्गत नहीं, और बर्तनों की तैयारी में जो यह अन्तर और विभाग मालुम होता है, वास्तव में गुणमयी अंश में है जो कि असत या मिथ्या आकृतियाँ हैं, गुणी या मिट्टी में नहीं। इसी कारण हमारे सिद्धान्त में विभक्त स्वरूप आकृति है, अधिष्ठान नहीं।

(८७) कपड़े को जब गज़-गज़ नाप कर बराबर टुकड़े किया जाता है, वह विभाग वास्तव में उस कपड़े की आकृति में होता है, सूत में, जो उस अकृति का अधिष्ठान है, नहीं होता। किन्तु इस हेतु कि सूत अपने आपकी त्रिपुटी रूप आकृति के अधिष्ठान के स्थान पर है, उस आकृति के विभाग का भी वही अधिष्ठान है कि जो विभाग उस आकृति के अन्तर्गत है, क्योंकि विभाग से वह आकृति विभाग के गुणवाली तो हो सकती है, विभाग का अधिष्ठान नहीं हो सकती। इसी कारण से हमारे शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि एक आकृति दूसरी आकृति का अधिष्ठान नहीं हो सकती। इससे सिद्ध होता है कि कपड़े का विभाग या दो टुकड़े हो जाना यह सब वास्तव में कपड़े की आकृति में है, जो स्वयम् मिथ्या है, सूत में नहीं जो सत्वस्तु है, तब भी सूत कपड़े की आकृति का तथा कपड़े की आकृति के विभाग का अधिष्ठान है। इस दशा के विचार से तर्कशास्त्री सूत में भी विभाग निश्चय करता है, और यह केवल भ्रम है।

(८८) इस विषय का प्रत्यक्षीकरण तुम पर स्वप्न की अवस्था में भली भाँति होगा, क्योंकि स्वप्न के समय वास्तव में अकेला स्वप्न देखने वाला ही होता है, और यह स्पष्ट है कि स्वप्न की आकृतियाँ स्वप्न-काल में स्वयम् देखने वाले से ही निकलती हैं, और जिस प्रकार वह आकृतियाँ द्रष्टा स्वरूप से निकलती हैं, उसी तरह उन आकृतियों का अन्तर और विभाग भी

साक्षीस्वरूप से ही निकलता व आकृतियों से सम्मलित होता है। इसी कारण वह आकृतियाँ पृथक्-पृथक् दिखाई देती हैं। और इस हेतु कि वस्तुतः विद्यमान वहाँ देखनेहार ही होता है, और उन आकृतियों का तथा उन आकृतियों के विभाग का भी अधिष्ठान वही साक्षीस्वरूप ही होता है, वह कल्पित विभाग तत्त्व स्वरूप में होने के कारण आकृतियाँ भी भिन्न-भिन्न सत्य दिखाई देती हैं, और द्रष्टा ही अनेक-सा होकर दिखाई देता है, किन्तु वास्तव में द्रष्टा स्वरूप में विभक्त नहीं हो जाती, क्योंकि आकृतियाँ और आकृतियाँ का विभाग वास्तव में मिथ्या हैं, सत्य नहीं, और मिथ्या वस्तु असली वस्तु पर कुछ प्रभाव नहीं रखती। यदि मिथ्या वस्तु अधिष्ठान पर प्रभाव रखती होती, तो मृगतृष्णा के जल से बालुका, जो उसका अधिष्ठान है, अवश्य भीग जाती। इस हेतु कि मृगतृष्णा के जल से मरुभूमि भीग नहीं जाती, इसी तरह स्वप्न की मिथ्या आकृतियों के विभाग से द्रष्टा स्वरूप विभक्त नहीं हो जाती। इसी कारण हमारे शास्त्र में यह सिद्धान्त होता है कि आकृति पर ही विनाश आच्छादित होता है, अधिष्ठान पर नहीं, यद्यपि विनाश और स्थिति का अधिष्ठान भी वही है।

(८६) वर्तन उतारते समय मिट्टी के पिण्ड से जो मिथ्या आकृतियाँ (कूज़ा और प्याला) निकलती हैं, और उसी तरह उसकी विभक्ति भी इसी मृत्तिका-पिण्ड से निकलती उन आकृतियों में आ सम्मिलित होती है, वास्तव में सब का अधिष्ठान वही मृत्तिका है जिससे कि वह आकृतियाँ (कूज़ा और प्याला) और उसकी विभक्ति निकलती है। और यद्यपि अधिष्ठान के ख़याल से यह विभक्ति मृत्तिका में प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में वह मृत्तिका विभक्त नहीं हो जाती। यदि वह उन

का अधिष्ठान रूप मृत्तिका भी विभक्त हो जाती, तो विरोधी सिद्धान्त सिद्ध हो जाता जो असम्भव है। क्योंकि यह असम्भव है, अतएव मृत्तिका विभाज्य स्वरूप नहीं, वरन् अविभाज्य स्वरूप व अधिष्ठान है। और जो वस्तु अपने में विभाग और विकार पाये बिना अनेक रूप होती है, वह नानारूप मिथ्या ही होता है, जैसा कि स्वप्न में उसका प्रमाण भली भाँति प्रत्यक्ष होता है। इसलिये मिट्टी से मिट्टी के बर्तन का उतरना मिट्टी का ही विलास है, वास्तव में कुछ बाहर में मृत्तिका की अनेक संख्या नहीं हो गई, इसलिये मिट्टी ही सत्य है।

(६०) श्वेतकेतु ने निवेदन किया—"भगवन् ! मृत्तिका का पिण्ड जिससे बर्तन निकलते है, स्पष्ट विदित है कि नाश हो जाता है, क्योंकि जैसे-जैसे बर्तन उतरते है, वैसे-वैसे मृत्तिका-पिण्ड नाश होता जाता है, अन्त में जब सब बर्तन उतर जाते हैं, तो फिर मृत्तिका-पिण्ड शेष नहीं रहता, और यह प्रत्यक्षीकरण उस सिद्धान्त का विरोधी होता है, इसमें क्या कारण है ?

(६१) ऐ श्वेतकेतु ! मिट्टी का पिण्ड भी नाम-रूप से विशिष्ट है, अविशिष्ट (अर्थात् विशेषण रहित) नहीं, और हमने जो यह सिद्धान्त किया है विशेषण रहित मृत्तिका में किया है जो नाम और रूप से परे है, क्योंकि मृत्तिका-पिण्ड गोलाकार परिणाम और पिण्ड नाम से विशिष्ट है। और गोलाकार का यह स्पष्टीकरण, परिमाण और पिण्ड नाम भी उसी तरह मिथ्या हैं, जिस तरह कि बर्तनों की आकृतियाँ और परिमाण मिथ्या हैं, किन्तु यह गुण और विशेषण जो पिण्ड नाम से मिट्टी में प्रकट हुआ है, निस्सन्देह उन आकृतियों और परिमाण के स्पष्टीकरण का कारण है जो बर्तन नाम

पाते हैं, और इसी कारण मृत्तिका के पिण्ड को हम बर्तन उतारते समय प्रथम कारण या मृत्तिका का प्रथम विशेषण नाम किया करते हैं, और क्योंकि यह प्रथम विशेषण नाशनाम और मिथ्या है इसलिये जिस-जिस परिमाण में उससे नाना विशेषण, आकृतियों और बर्तनों की संख्या निकलती जाती हैं, उसी-उसी परिमाण में यह प्रथम विशेषण जो पिण्ड नाम से अभिहित है, हानि पाता जाता है। जब सब बर्तन उतर चुकते हैं, तो यह प्रथम विशेषण सम्पूर्ण नाश हो जाता है, किन्तु इस प्रथम विशेषण के नाश से शुद्ध मृत्तिका नष्ट नहीं हो जाती, वरन् वह तो बर्तनों की आकृतियों, संख्याओं, नामों और विशेणों में तत्त्व स्वरूप से विद्यमान दिखाई देती है। यदि वह मिट्टी भी नाश हो जाती तो फिर बर्तनों की आकृतियों, विशेषण और संख्या का अधिष्ठान कौन होता, और यह नाम-रूप आकृतियाँ तथा बर्तन कहाँ दिखाई देते ?। हाँ, इतना अवश्य है कि वह शुद्ध मृत्तिका पहिले प्रथम विशेषण अर्थात् पिण्ड नाम से दिखाई देती थी, अब वही शुद्ध मृत्तिका बर्तन नाम के विशेषणों में वैसी ही विद्यमान दिखाई देती है। अतः इस शुद्ध मृत्तिका को ही तुम सत्य और शिव परमात्मा जानो और वह पहिले व दूसरे विशेषण तथा आकृतियाँ उसी में अध्यारोपित वा देखने मात्र मिथ्या वस्तुएँ हैं। इसी कारण से हमारे सिद्धान्त में जगत केवल दृष्टिरेवसृष्टि है। वह वस्तु जो इस दृष्टि रूप सृष्टि का अधिष्ठान है, वही सत्य है।

(६२) हे भगवन् ! मैंने आपके इस सूक्ष्म सिद्धान्त को भली भांति मालूम कर लिया है, और जान लिया है कि वास्तव में शुद्ध मृत्तिका ही सत्य और शिव परमात्मा है, मेरे गुरुकुल में तो यह सूक्ष्म सिद्धान्त स्वप्न में भी नहीं आये, वरन् मैं विश्वास

करता हूँ यदि मेरा गुरु स्वयम् आपसे शिक्षा पावे, तो वर्षों में यह सूक्ष्म सिद्धान्त शायद उसकी समझ में आवे।

(६३) हे प्रिये! हमारे ऋषिकुल में तो नवयुवक बच्चे शिवार्चण में ही इस सिद्धान्त से परिचित हो जाते हैं। देखो, हमारे कुल के श्रेष्ठ आचार में, जो प्रत्यक्ष शिवार्चन के आरम्भ में बच्चे से कराते हैं, यही होता है कि पहले एक शुद्ध मृत्तिका का पिण्ड बनाते हैं और फिर उसी में से उसी तरह रुद्रियाँ उतार लेते हैं और उसी माटी के पिण्ड में जो रुद्र होता है, मिलाकर अर्चन करते हैं, और वह इसमें शुद्ध मिट्टी को शिव परमात्मा की भावना करता, उन रुद्रियों को रुद्र के सहित सर्व-प्रपञ्च रूप परमात्मा का ध्यान करता व असली एकता को प्राप्त करता है।

(६४) हे भगवन्! वह शुद्ध मृत्तिका को ही क्यों नहीं अर्चन करते, इस प्रकार प्रथम विशेषण रूप पिण्ड और रुद्रियाँ उतारकर फिर उसी में मिलाकर क्यों पूजते हैं?

(६५) ऐ पुत्र! शुद्ध परमात्मा विना आत्म-ज्ञान और साक्षात्कार के, जो अभी आगे सूक्ष्म सिद्धान्त से ज्ञात होगा, प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये विशेषण और आकृतियों में ही वह शुद्ध परमात्मा शुद्ध मृत्तिका-रूप होकर ही उनको पिण्ड में दिखाई देता है। इसलिये अज्ञानी के लिये, अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व, विशिष्ट (विशेषणवाले) में ही उपासना करनी चाहिये।

(६६) हे भगवन्! विशेषणों में अज्ञानी को किस प्रकार शुद्ध परमात्मा दिखाई देता है, यह भली भाँति ब्योरेवार बताइये, मेरी समझ में अभी तक नहीं आया।

(६७) ऐ पुत्र ! देखना दो प्रकार का होता है, एक सावरण दर्शन होता है और दूसरा निरावरण दर्शन । वस्त्रधारी प्यारे का जो आवरण-सहित देखना है, वह सावरण दर्शन है, और जो सहवास-काल में वस्त्र उतारकर प्रियतम को नग्न देखा जाता है वह निरावरण दर्शन कहलाता है। अभी तक जो तुमको इस श्रुति की व्याख्या में साक्षात्कार कराया गया है वह सावरण साक्षात्कार है। और जब आगे चलकर स्वस्वरूप के अनुभव में तुम को साक्षात्कार होगा, वह साक्षात्कार निरावरण होगा।

(६८) विवाह के समय जब दुलहिन को चद्दर में ढाँपकर खारों पर दुलहा के बाईं ओर बिठाते है, उस समय दुलहिन में दुलहा का जो साक्षात्कार है, वह सावरण साक्षात्कार के समान होता है, किन्तु रात्रि के सहवास में जब वस्त्र उतारकर दुलहा दुलहिन रमण करते हैं तो वह निरावरण साक्षात्कार होता है। इसी तरह शिवार्चन में उपासक पुरुष को मिट्टी के पिण्ड में जो वस्तु-मात्र शुद्ध मृत्तिका का भान होता है, वह सावरण साक्षात्कार है, और जब वह उपनिषद् भाग से आत्म-रूप का साक्षात्कार करता है वही साक्षात्कार निरावरण होता है। संस्कृत-भाषा में सावरण साक्षात्कार को 'सविशेष दर्शन' बोला करते हैं, और निरावरण साक्षात्कार को निर्विशेष दर्शन' कहा करते है।

(६९) हे भगवन् ! जिस तरह वस्त्र पहना हुवा प्रियतम चाहे प्रेमी के सम्मुख ही हो किन्तु जब तक किसी कारण से उस को पता न हो वह प्रियतम का दर्शन नहीं करता। इसी कारण मैं इससे पहले जो शिवार्चन करता था इस दर्शन से रहित था। अब आपकी कृपा से मृत्तिका-पिण्ड में, जो कारण-कार्य

भाव मे अतीत वस्तु-मात्र साक्षात् स्वरूप शिव परमात्मा है, नाम-रूप के आवरण में समावृत देखता हूँ। वह मेरी पहिली दृष्टि उसमें कार्य-भाव वा सृष्टि ही की थी।

(१००) प्राय: मूर्ख लोग कार्य-भाव वा सृष्टि की दृष्टि के कारण ही इस उपासना से इनकारी होते है, और अब आपकी कृपा से वह दृष्टि और इनकार मेरा पलट गया है।

(१०१) ऐ पुत्र! शास्त्र में तीन प्रकार की दृष्टि लिखी हुई है, एक शास्त्र-दृष्टि है, एक मनुष्य-दृष्टि है, और एक उलूक-दृष्टि है। जो सम्बन्ध उलूक-दृष्टि को मनुष्य-दृष्टि से है, वही सम्बन्ध मनुष्य-दृष्टि का शास्त्र-दृष्टि से है, किन्तु इतना अन्तर है कि उलूक-दृष्टि मनुष्य-दृष्टि नहीं हो सकती, किन्तु मनुष्य-दृष्टि विद्याअध्ययन से शास्त्र-दृष्टि हो सकती है।

(१०२) देखो, दोपहर के समय निर्मल आकाश में जब सूर्य मध्याकाश में होता है, तो मनुष्य-दृष्टि में दिन होता है किन्तु उल्लू उसमें बारह बजे रात के अन्धकार को देखता है। और मनुष्य यदि उल्लू को बतला दे कि रात नहीं वरन् दिन है तो विश्वास नहीं करता बल्कि इनकार करता है। और मनुष्य की दृष्टि भी, जो यद्यपि शास्त्र-दृष्टि के विचार मे वैसी ही है (क्योंकि अविद्या या अनादि अज्ञान से यह दृष्टि उल्लू के समान महातेज स्वरूप परमात्मा में, जो शुद्ध मृत्तिका है, पिण्ड और माटी के बर्तन देखती है) शास्त्र-दृष्टि उसकी दृष्टि को पलटना चाहती है, और इस हेतु कि मनुष्य शास्त्र-दृष्टि को ध्यान करने के बराबर जान सकता है, इसलिये उसकी दृष्टि शास्त्र-दृष्टि के अधीन है।

(१०३) शास्त्र की दृष्टि और मनुष्य की दृष्टि में सम्बन्ध ठीक-ठीक वही है जो युवक दृष्टि और बाल दृष्टि म होता है। क्योंकि

अँधेरी रात के समय जो बच्चा रस्सी में सर्प का भान करता सर्प देखता है, और युवक-दृष्टि से सर्प नहीं रस्सी है ऐसा विश्वास करता है, और फिर वह (बाल-दृष्टि) युवक-दृष्टि के आधीन हो जाती है. और अन्त में युवक-दृष्टि जब उसको भी होती है, तो उस समय उस शुद्ध दृष्टि का उसे आनन्द होता है। इसी कारण बालक को जब तक कि वह वयःप्राप्त (युवक) न हो, युवक की आधीनता में वर्ताव करना चाहिए। यदि वह युवक की आधीनता और आज्ञाकारिता से निकलकर अपनी दृष्टि पर वर्ताव करेगा, तो वह हानि का हेतु होगा। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को जब तक कि उसे तत्त्व-साक्षात्कार न हो शास्त्र की आधीनता में वर्ताव करना चाहिये, अन्यथा पारलौकिक हानि का हेतु होगा।

(१०४) हे भगवन्! इस समय प्रायः लोग परमात्म-पूजन से इनकारी हैं और बराबर सभाएँ करते हैं (जैसे कोई सभा आर्य-समाज नाम से होती हैं, कोई सभा ब्रह्म-समाज नाम से होती है) और परमात्म-पूजन तथा कुछ शास्त्र की बातों को भी वह लोग बदल देना चाहते हैं। इनके विषय में आपका कैसा विचार है?

(१०५) ऐ पुत्र! इन सभावालों को तुम उलूकों की सभा जान लेना। जैसे उलूक (चिमगादड़) दिन में अन्धकारमयी रात देखते हुए एक वृक्ष पर इकठ्ठा हो लटकते हैं और कोलाहल करते हैं. किन्तु अपनी दृष्टि में जो अनादि अज्ञान का अन्धकार रखते हैं उन्हें का मार्ग नहीं देख सकते, इसी तरह यह उलूक-दृष्टि वाले लोग भी श्रुतिभगवती की आज्ञाकारिता से निकलकर व्यर्थ ही भटकते हैं।

(१०६) हे भगवन्! अन्य देश के लोग भी अपना-अपना

शास्त्र भिन्न-भिन्न रखते हैं और वह परमात्म-पूजन से इनकार करते हैं, और अपनी अपनी दृष्टि को अपने-अपने शास्त्र की दृष्टि के आधीन समझते है। इनके विषय में आपका क्या विचार है?

(१०७) ऐ पुत्र! वह लोग भी वास्तव में उलूक-दृष्टि रखते हैं, किन्तु आर्य-समाज और ब्रह्म-समाजवाले लोग, जो वेद से इनकार नहीं करते, हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक आत्मसाक्षात्कार की कसौटी के अध्ययन से सत्य मार्ग पर आ जायेंगे और ये विदेशी लोग जो वेद से इनकार करते हैं, आशा नहीं कि इस जन्म में सत्य मार्ग पर आवें, क्योंकि वह अपने ही धर्म-ग्रन्थों पर हठ करके मुक्ति का भरोसा करते हैं।

(१०८) शास्त्र का रहस्य यह है कि मनुष्य अपने अज्ञान से अपने ही स्वरूप को अज्ञान के आवरण में उसी तरह नाना-रूप देखता है जैसे कि स्वप्न में नींद के कारण अपने आपको अज्ञान की सूरत में नानारूप देखता है, और वेद भगवान् अपनी एक ऐसी महिमा रूप विभूति है, कि उसको उलटे दर्शन से रोककर उसका वास्तविक स्वरूप उस पर प्रत्यक्ष कराता है, जिससे उसके अज्ञान का नाश हो जाता है, अज्ञान की नानारूपता उड़ जाती है, और अपने स्वरूप की एकता में वह वेपरवाह (सन्तुष्ट) होता है। अतः आरम्भ में बुद्धि का और वेद का झगड़ा हो जाता है, क्योंकि बुद्धि तो नानात्व को सत्य जानती है और वेद नानात्व को मिथ्या और नानात्व-दर्शी को अद्वैत तत्त्व सिद्ध करता है। और विदेशियों के धर्म-ग्रन्थों में यह रहस्य प्राप्त नहीं, इसलिये वह केवल शास्त्राभास है।

(१०९) हे भगवन्! यदि आपके निकट समस्त (धर्म-ग्रन्थ) अद्वैत परमात्मा की ही विभूतियाँ हैं और वेद भगवान् भी उसकी

विभूति ही है, तो क़ुरान भी उसी परमात्मा की विभूति है, फिर क्यों नहीं उसको शास्त्र मान लिया जाता ? शास्त्राभास क्यों कहा जाता है ?

(११०) ऐ पुत्र ! वेद और क़ुरान दोनों वास्तव में उस एकमेवाद्वितीयम् की विभूतियाँ या महिमायें हैं किन्तु अन्तर यह है कि वेद उस (परमात्मा) के स्वरूप का वर्णन करनेवाली वाणी है, और क़ुरान उसके वैभव का वर्णन करनेवाली वाणी है। अतः जो विभूतियाँ या महिमायें किसी कारण से स्वरूप के वर्णन से सम्बन्ध रखती हैं, वह महिमाएँ निज आत्म-स्वरूप का चिन्तन करती आत्मा में लीन हो जाती हैं, निजात्मा में साक्षात्कारस्वरूप, आनन्दस्वरूप और सत्यस्वरूप हो जाती हैं। इसी को शास्त्र में मुक्ति बोलते हैं। और जो विभूतियाँ या महिमाएँ वैभव के वर्णन में ही फँसी होती हैं, वह सदैव नरक और सदैव स्वर्ग में, जोकि स्वर्गीय रण्डियों का चकला है, चक्कर लगाती वा लगवाती रहती हैं।

(१११) हे भगवन् ! आपने किस तरह मालुम किया कि वेद भगवान् परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करता है और क़ुरान परतमा के ऐश्वर्य या वैभव का वर्णन करता है ?

(११२) ऐ पुत्र ! ईश्वर-वाणी रूप महिमा का वैभव-वर्णन और स्वरूप-वर्णन उसकी वर्णन-शैली से ही बुद्धिमान् जान लेते हैं। जैसे कि क़ुरान सूरह इनफ़ाल आयत पहली में लिखा है—

ویسئلونک عن الانفال قل الانفال للہ و الرسول

अर्थ—"ऐ मुहम्मद, जब लुटेरे लोग लूट के माल के विषय में प्रश्न करें, तो आज्ञा दो कि लूट का धन या तो अल्लाह को दो या रसूल को।" अतः यह आज्ञा परमात्मा के वैभव की

द्योतक है, और नबी के एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में प्रतिज्ञा, यह वैभव का वर्णन नहीं है और तो क्या है। परन्तु हम ज्ञानी पुरुष परमात्म देव को जिस विभूति में वह प्रकट होते हैं, उसी में पहचान जाया करते हैं।

(११३) वेद-रूपी विभूति में परमात्मा का स्वरूप-वर्णन यों प्रतीत होता है कि श्रुतिभगवती स्पष्ट वर्णन करती है कि आत्मा को जानने वाला ही आनन्द को प्राप्त होता है, "तरति शोकमात्मवित्।" और ऋषि-मुनि के हाथ में तलवार नहीं बल्कि शास्त्र है जिससे श्रुतियों का तात्पर्य मनुष्य पर प्रकट होता वा खुलता है।

(२१४) हे भगवन्! फिर आपने किस प्रकार जाना कि वेद आत्मा का साक्षात्कार कराता है और क़ुरान आत्म-ज्ञान का विरोधी है?

(११५) ऐ पुत्र! श्रुतिभगवती स्पष्ट आज्ञा देती है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" अर्थात् आत्मा देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन करने योग्य है। इस श्रुति से ज्ञात हुआ कि वेद का सच्चा तात्पर्य आत्म-साक्षात्कार है; और जिनके हाथ में क़ुरान है वह तलवार से बढ़ कर यह आज्ञा एक हाथ में रखते हैं कि—

کہ لاتفکرو فی ذاتہ و تفکرو فی صفاتہ

अर्थात् ऐ लोगो! तुम परमात्मा-स्वरूप का चिन्तन मत करो बल्कि उसके गुणों का चिन्तन करो। अतः सिद्ध हुआ कि जो विभूतियाँ वैभव के वर्णन में फँसी होती है, वह सदैव गुणानुवाद क वृत्ति में अधिकतर घिरी होती है। और जो विभूतियाँ स्वरूप-वर्णन के वृत्त में आती है वे नित्य अद्वैत

स्वरूप परमात्मा में तद्रूप होती नाना गुणों के बन्धन से मुक्त होती हैं। सन्सार और धर्म का यह गूढ़ रहस्य है। ※

(११६) ऐ श्वेतकेतु ! जैसे सूत की त्रिपुटी रूप समूह से जो सूत पट के रूप में प्रकट होता है और जिस पट को कोई बुद्धिमान् मनुष्य सूत से भिन्न करके नहीं देख सकता ; वैसे ही मृत्तिका रूप बर्तन में, जो मृतिका के विलास से प्रकट हुए हैं, कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य उनको मृत्तिका से भिन्न करके नहीं देख सकता।

(११७) बुद्धिमान् तो क्या बरन् साधारण बाजारी लोग भी पट को सूत और घट को मृत्तिका ही जानते हैं। देखो, यदि कोई मूर्ख तन्तुवाय (जुलाहा) पट तैयार करके बाजार में ले जाय और बजाज से यह प्रश्न करे कि इस वस्त्र में पाँच सेर सूत है उसका मूल्य मुझे अलग दो और इसमें जो पट की रचना से एक अधिक आकृति पट की बनी हुई है, उसका मूल्य अलग दो, तो ऐसे तन्तुवाय का बजाज लोग उपहास ही करते हैं। इसी तरह तर्क-शास्त्र, जो सूत में पट को भिन्न मानता है, उपहास का पात्र है।

(११८) हमारी इतनी विस्तार-पूर्वक व्याख्या का यही परिणाम है कि कार्य पदार्थों में जो उपादान कारण है वही

※ सूचना—नम्बर ८७ से लेकर ११५ तक जो व्याख्या है वह अनुवादक ने प्रतिमा-पूजा, जो इस श्रुति से निकलती है, उस के प्रमाण हेतु प्रतिमा-पूजन से इन्कार करनेवालों के लिये अधिक लिखी है। उपनिषदों में तो इतनी ही श्रुति है कि मिट्टी में जो नाम-रूप है वह मिथ्या है और शुद्ध मृत्तिका ही सत्य है। अब आगे फिर अनुवाद आरम्भ होता है। यहाँ के आगे मूल का अनुवाद समझिए।

सत्य है और उसमें कार्य पदार्थ मिथ्या मात्र ही होते हैं। जैसे रज्जु में जो सर्प दिखाई देता है, केवल मिथ्या नाम-मात्र ही है, और रज्जु से भिन्न स्थिति उसकी नहीं; या जैसे आकाश में जो मिथ्या गन्धर्वनगर योंही दिखाई देता है, वह वास्तव में उत्पन्न नहीं हुवा; वैसे ही उपादान कारण में जो उसके कार्य दिखाई देते है, उसी प्रकार मिथ्या मात्र हैं और यों ही दिखाई देते हैं।*

(प्रयोजन)—विदित हो कि जगत् की रचना के विषय में शास्त्र में तीन मत हैं:—(१) आरम्भवाद, (२) परिणामवाद (३) और विवर्तवाद। प्रथम दो मत के लोग कारण से कार्य को वस्तुतः भिन्न और सम स्थिति व उत्पत्तिवाला मानते हैं, और अन्तिम मत के लोग, जो तत्त्ववेत्ता हैं, कारण में कार्य को वस्तुतः उत्पन्न नहीं मानते वरन् उसे असम स्थिति वाला देखने मात्र ही मानते है। और उन पहिले दो मतों में जो कार्य को रचित और वस्तुतः उत्पन्न मानते हैं, केवल इतना अन्तर है कि पहिले मतवाला कारण में विकार के विना कार्य की रचना और उत्पत्ति कल्पना करता है, और दूसरे मतवाला कारण का विकार तथा कार्य की उत्पत्ति मानता है।

(११६) ऐ श्वेतकेतु ! मृत्तिका के बर्तन मृत्तिका के विकार से नही उतरते, और सुवर्ण के भूषण सुवर्ण के विकार से उत्पन्न नहीं होते. और लोहे के शस्त्र लोहे के विकार से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु दूध के विकार से जो दही बनता है वास्तव में दूध के विकार से बनता है, क्योंकि जब दूध का दही बनता है तो फिर

---

*सूचना—यहाँ तक ऋषिजी ने आरम्भवाद मत का खण्डन किया; अब परिणामवाद आरम्भ होता है जिससे कि विवर्तवाद जो तत्त्व-वेताओं का मत है भली भाँति सिद्ध हो जाय।

दही में दूध दिखाई नहीं देता; पर मिट्टी के बर्तन में मिट्टी, सुवर्ण के भूषण में सुवर्ण और लोहे के हथियार में लोहा दिखाई देता रहता है, इसलिये मिट्टी और सुवर्ण और लोहा अपरिवर्तन शील अर्थात् निर्विकार हैं। और दही में जो दूध दिखाई नहीं देता वास्तव में नाशवान हो जाता है; और मिट्टी, सोना तथा लोहा जो अपने कार्यों में लगातार दिखाई देते हैं नाशवान् नहीं होते। इससे ज्ञात हुआ कि उपादान कारण का नाश आवश्यक नहीं।

(१२०) हे भगवन्! जब कि आप दूध को नाशवान् मानते हैं और दही को उत्पन्न हुआ, तो दूध वास्तव में दही का उपादान कारण ही है, फिर कहना चाहिये कि कहीं-कहीं उपादान कारण नाशवान् या विकारवान् नहीं होता और कहीं-कहीं नाशवान और विकारवान होता है, जैसे कि दूध और दही में अनुभव होता है। किन्तु सोने से भूषण, मिट्टी में बर्तन और लोहे से शस्त्र जो बनता है, लोहा, मिट्टी, सोना नहीं बदलता, इससे सब के लिये यह नियम नहीं निकल सकता कि कारण का नाश आवश्यक नहीं।

(१२१) ऐ पुत्र! दूध से जो दही बनता है, तो दही का दूध उपादान कारण नहीं है, क्योंकि जो वस्तु कार्य में कार्य का कारण हो और उसी में उसका तत्त्व या स्वरूप होकर कार्य में दिखाई देता रहे, वही वास्तव में उपादान कारण होती है। और जो वस्तु कार्य का कारण तो हो किन्तु नाश या विकार के पश्चात् स्वतः उत्पन्न और कार्य हो, वह निमित्त कारण तो होती है, उपादान कारण नहीं होती। यह सब शास्त्रकारों का सर्व सम्मत सिद्धान्त है, अतः दूध से जो दही बनता है उसके रूप में फिर दूध दही का तद्रूप हुवा नहीं दिखाई देता, इस

लिये वह दही का उपादान कारण नहीं है, वरन् दही का निमित्त कारण है।

(१२२) हे भगवन्! यदि दूध दही का उपादान कारण नहीं, तो फिर दही का उपादान कारण क्या है? क्योंकि जो वस्तु अस्तित्ववाली उत्पन्न होती है, उसके दो कारण अवश्य ही होते हैं, एक उपादान कारण, दूसरा निमित्त कारण। और यदि दही का उपादान कारण कोई नहीं, तो असत से सत की उत्पत्ति आवश्यक हो जायगी। और यह बात असम्भव है, इससे यही मान लेना चाहिये कि दूध वास्तव में दही का उपादान कारण है और खटास या जाग इत्यादि निमित्त कारण हैं।

(१२३) ऐ श्वेतकेतु! जो विकारवान् होता है, वह उपादान कारण नहीं होता, और दूध दही की दशा में विकारवान् है, इसलिये उपादान कारण नहीं हो सकता। दही का उपादान कारण वास्तव में तीन तत्त्व (पृथ्वी, जल और अग्नि) ही हैं, जिसपर पत्ती, घास इत्यादि की आकृतियाँ आ गई, और फिर जब पशुओं ने वह (घास, आदि) खाया, तो उसमें प्रथम आकृति विकारवान् होकर रक्त बन गई और फिर रक्त विकारवान् होकर दूध बन गया और फिर दूध परिवर्तित होकर दही बन गया। अतः पत्ती, घास इत्यादि विकार तो आकृति के पश्चात् आकृति दही की निमित्त कारण है, और वही तीन तत्त्व जिनमें ये आकृतियाँ विद्यमान और आच्छादित होती है, प्रत्येक आकृति की उपादान कारण हैं। और दही का उपादान कारण भी वही तीन तत्त्व हैं।

(१२४) ऐ श्वेतकेतु! अग्नि, जल, मिट्टी ये तीन तत्त्व ही विभिन्न रूप घास, रक्त, दूध दही छांछ मक्खन को धारण करते चले आते हैं, क्योंकि हर बार परिवर्तन में यही अग्नि पानी

मिट्टी का रंग लाल, सफ़ेद, काला उनके रूप में तद्रूप होकर दिखाई देता है, और जो वस्तु कार्य में कारण होकर रंग पर उसके स्वरूप में दिखाई दे, वही उपादान कारण होती है, इसलिये दही का उपादान कारण उपर्युक्त तीन तत्त्व हैं और वह नाशवान् नहीं। वही सत हैं।

(१२५) जैसे कि मिट्टी का पिण्ड, जो पिण्ड के नाम-रूप से विशिष्ट है, वास्तव में मिट्टी के बर्तनों का उपादान कारण नहीं, क्योंकि यदि विशेषणवाला ही उपादान कारण होता तो बर्तनों में वह जो पिण्ड नाम-रूप से विशिष्ट है बर्तनों की असलियत और आकृति में प्रविष्ट हुआ दिखाई देता। परन्तु वह विशिष्ट इन बर्तनों में प्रविष्ट हुआ दिखाई नहीं देता, बरन् मूल तत्त्व जो शुद्ध मृत्तिका है वह अपने पहिले आरोपित नाम-रूप पिण्ड के विशेषण को त्याग करके बर्तनों के नाम-रूप से बर्तनों में प्रकट हो रहा है। इससे ज्ञात हुवा कि विशिष्ट पदार्थ वस्तु का उपादान कारण नहीं होता, वरन् विशिष्ट में जो भाग विशेषणवाले तत्त्व का विशेषण के त्याग के पश्चात् पवित्र सिद्ध होता है वही वास्तव में उपादान कारण होता है, और वह परित्यक्त विशेषण वास्तव में निमित्त कारण होता है और नाशवान् होता है। इसी कारण हमारा सिद्धान्त यह है कि उपादान कारण वास्तव में विशेषणों से सदैव रहित होता है।

(१२६) देखो मृत्तिका का पिण्ड, जो नाम, रूप और पिण्ड के विशेषणोंवाला है उसको यदि तोड़ दिया जाय, तो खण्ड-रूपी शुद्ध और पवित्र मृत्तिका ही बर्तनों के रूप में दिखाई देती है, पिण्ड रूप नाम से विशिष्ट हुए बर्तनों में दिखाई नहीं देते; वैसे ही मिट्टी, पानी, आग ये तीन तत्त्व ही घास-पात, ख़ून-दूध से विशिष्ट हुए दही में नहीं दिखाई देते, वरन् घास पात ख़ून दूध

जो उन गुणों और नामों से रहित है, लाल, सफ़ेद, स्याह दही में दिखाई देते हैं। यही दशा समस्त संसार की है। इससे यही निकलता है कि समस्त संसार का उपादान कारण वास्तव में शुद्ध तीनों तत्त्व हैं और समस्त संसार तत्त्व रूप ही है।

(१०७) उपर्युक्त व्याख्या का तात्पर्य यह है कि जो वस्तु उत्पत्ति-काल में विकारवान् होती है वह दूध की तरह उपादान-कारण नहीं होती, वरन् जो वस्तु विकारवान् नहीं होती और उत्पन्न पदार्थ में दिखाई देती रहती है, वही उस उत्पन्न की उपादान कारण होती है। इसी कारण श्रुतिभगवती ने उदाहरण में मिट्टी और सोना और लोहे को उपादान कारण स्वीकार किया है। क्योंकि वर्तन, भूषण और औज़ार के उत्पन्न होते समय मिट्टी सोना वा लोहा उनमें तद्रूप हुवा दिखाई देता है। यदि यह मिट्टी सोना वा लोहा वर्तन भूषण और शस्त्रों के विकार से स्वयम् विकारवान् होता, तो दूध जैसे दही होने पर दही में दिखाई नहीं देता, वैसे ही मिट्टी सोना या लोहा भी परिवर्तन होने पर परिवर्तित पदार्थ में दिखाई न देता परन्तु मुरकी, वाला माला आदि भूषण सोने में उत्पन्न होते हैं और सोना उन में दिखाई देता है, इसी कारण सोना आदि भूषण आदि के विकारवान् तत्त्व नहीं,, वरन् निर्विकार तत्त्व सिद्ध हैं *

* सूचना यहाँ तक ऋषिजी ने उपादान कारण को सत्य और अविनाशी सिद्ध किया जिसको वेदान्त की परिभाषा में 'सत' बोलते है, अब उपादान कारण की एकता को सिद्ध करने के लिये कारण और कार्य के पूर्णतया भेद तथा किसी अंश में भेद का खण्डन करते हैं।

सूचना शास्त्रकारों के तीन मत हैं, तर्कशास्त्र वाले

(१२८) हे प्रिय ! सांख्य-शास्त्र और कुछ मीमांसा-शास्त्र के विद्वान् जो कार्य को उपादान कारण से किसी अंश में वही और किसी अंश में पृथक् सिद्ध करते हैं और तर्क-शास्त्री जो कार्य को उपादान कारण से पूर्णतया पृथक् मानते हैं, ये सब झूठे हैं, सत्य नहीं। क्योंकि जो वस्तुएँ भीतर से पृथक-पृथक होती है वह भिन्न-भिन्न अधिष्ठान में रहती हैं, जैसे कि घोड़े, गाय परस्पर भिन्न हैं, भिन्न-भिन्न घरों में ही रह सक्ते हैं। जहाँ घोड़ा रहता है, वहाँ गाय नहीं रह सकती, बल्कि पहले जब घोड़ा उस मकान से निकाला जाय, तभी गायें उस मकान में रह सकती हैं, और जब तक घोड़ा एक मकान में रहता है, तब तक उस मकान में गायें प्रविष्ट नहीं हो सकती है। यदि वह एक ही समय में एक ही मकान में प्रविष्ट हों, तो एक ही मकान में शरीरों का एक दूसरे में प्रविष्ट होना आवश्यक हो जायगा, और यह सब विचारवानों के निकट असम्भव है।

(१२९) यह नहीं भ्रम करना चाहिये कि दूध और शकर परस्पर मिले हुये एक ही स्थान में रह सकते हैं, वरन् एक दुग्ध के प्याले में जितने स्थान में दुग्ध के अंश रहते हैं उसी स्थान में चीनी नहीं रहती, और जितने स्थान में चीनी के अंश रहते हैं उतने स्थान में दूध नहीं रहता, हाँ दुग्ध के अंश और चीनी के अंश ऐसी विधि से निकटवर्ती स्थानों में रहते हैं कि दुग्ध का प्रत्येक परमाणु चीनी के प्रत्येक परमाणु से मिला हुआ

अर्थात् नैयायिक तो उपादान कारण और कार्य में पूर्णतया भेद मानते हैं। और सांख्य-शास्त्र तथा भेदाभेद आदि मीमांसा के आचार्य कार्य को उपादान कारण से किसी अंश में भिन्न और किसी अंश में अभिन्न वा तद्रूप सिद्ध करते हैं। और तत्त्व वेत्ता कार्य को ठीक उपादान कारण ही अनुसन्धान करते हैं।

क्रमशः स्थित और स्थिर होता है, और मनुष्य को इस ऐसी रचना विशेष के कारण उसमें सम्मिलित और अकेले अधिष्ठान का भ्रम होता है।

(१३०) इस बात के प्रमाण के लिये कल्पना करो कि एक प्याला दूध से लबालब भरा हुआ है, और फिर उसमें चार तोला चीनी डाल दो, तो उस दशा में उतने ही दूध के परमाणु प्याले से निकल जायँगे जितने कि उस स्थान में रहते थे कि जिसमें चार तोला चीनी के लिये स्थान हो। और फिर वह परमाणु दूध के शेष परमाणुओं से उसी तरह प्याले में क्रमशः स्थित और स्थिर होंगे जैसा कि ऊपर सम्मिश्रण की अवस्था में वर्णन किया गया है। इससे ज्ञात हुआ कि दो वस्तुएँ एक स्थान में एक समय में नहीं रह सकती।

(१३१) जो लोग कार्य को उपादान कारण से पृथक मानते हैं, उनसे यही प्रश्न करना चाहिए कि कार्य अपने उपादान से पृथक स्थान में रहता है या नहीं ? यदि वह उत्तर दे कि पृथक स्थान में रहता है, तो उसका यह उत्तर स्पष्ट मूर्खता है, क्योंकि कार्य अपने उपादान कारण से भिन्न स्थान (अधिष्ठान) में स्थिर नहीं होता। और यदि यह उत्तर दे कि कार्य और उपादान कारण एक ही (अधिष्ठान) में रहते हैं, तो सिद्ध है कि वह परस्पर मिले हुए है, पृथक नहीं। और सांख्य-शास्त्र के वेत्ता जो कार्य को उपादान कारण से किसी हेतु में एक और किसी हेतु में भिन्न मानता है, उसका यह कथन स्वयम् परस्पर विरोधी पदार्थों का एक स्थान पर एकत्र होना स्वीकार करना है। और यह असम्भव है। इससे ज्ञात हुआ कि कार्य ही ठीक उपादान कारण होता है और उसमें जो

अन्तर दिखाई देता है, काल्पनिक और नाम-मात्र है, वास्तविक नहीं, और यही सिद्ध करना था।

(१३२) यह स्पष्ट है कि जो स्वयम् भिन्न है वह अभिन्न नहीं होता, और जो वास्तव में अभिन्न होता है वह भिन्न नहीं होता। अतः यह कथन कि किसी हेतु से वह अभिन्न और किसी कारण से वह भिन्न है, सत्य नहीं है, वरन् उसी प्रकार का भ्रम है जैसा कि रज्जु में सर्प की आकृति का भ्रम होता है। क्योंकि कल्पना के कारण रज्जु अपने से भिन्न सर्प के रूप में दिखाई देती है, और विचार की दृष्टि से रज्जु वास्तव में रज्जु ही है। इसी कारण तत्त्ववेत्ताओं में यह सिद्धान्त नियत हुआ है कि उपादान कारण का जो अन्तर दिखाई देता है कल्पना के कारण दिखाई देता है, सत्य नहीं। अतः मृत्तिका-पिण्ड में जो पिण्ड-रूप की कल्पना है और कार्य अर्थात् बर्तनों में जो प्याला, कूज़ा और चीनी की कल्पना होती है, उससे कार्य का कारण से कल्पित अन्तर निश्चित होता है, और वास्तविक दृष्टि से कार्य अपने उपादान कारण का ही रूप है, कल्पना के ख़याल से वह भिन्न-भिन्न बर्तन रूप दिखाई देता है।

(१३३) यद्यपि भ्रान्त मनुष्य सर्प की आकृति के ख़याल से जो कल्पना रज्जु में विद्यमान होती है, रज्जु को रज्जु से इतर ख़याल करता है, किन्तु विचारवान् मनुष्य कल्पित सर्प के रूप को ठीक रज्जु का ही रूप नियत करता है, क्योंकि काल्पनिक रूप वास्तव में रज्जु से इतर कुछ पदार्थ नहीं, वरन् मिथ्या मात्र है; सत्ता की दृष्टि से रज्जु ही विद्यमान है। इसी प्रकार मृत्तिका में जो कल्पित प्याला कूज़ा आदि विद्यमान होते हैं मृत्तिका-तत्त्व से अतिरिक्त मिथ्या-मात्र हैं। और जो

मिथ्या-मात्र होता है, सर्प की आकृति की तरह कल्पित और ख़याली होता है ; अतः मृत्तिका में जो प्याला वा क़ूजा की आकृतियाँ व उपाधियाँ दिखाई देती हैं, नितान्त कल्पित और ख़याली है। और कल्पित व खयाली अपने अधिष्ठान का तद्रूप होता है, क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त उसका रूप विचार की दृष्टि से मिथ्या होता है। इसी कारण अधिष्ठान की सत्ता वा स्वरूप वास्तव में कल्पित या ख़याली पदार्थ की सत्ता या स्वरूप बतलाया जाता है।

(१३४) जिस प्रकार रज्जु की वास्तविक सत्ता मालूम होने पर सर्प की आकृति फिर असत् वा मिथ्या प्रतीत होती है, उसी तरह मृत्तिका की वास्तविक सत्ता के मालूम होने पर प्याला और क़ूजा इत्यादि पदार्थ और उपाधियाँ असत् वा मिथ्या होती है, तत्त्व वस्तु दिखाई नहीं देती। इसी कारण नाना कार्यों में उपादान कारण की एकता तत्त्ववेत्ताओं के निकट सदैव सिद्ध है। नाम रूप विशेषण वाली अनेकता के होते हुए भी तत्त्व वस्तु की वास्तविक एकता में कुछ दोष नहीं आता।

(१३५) हे प्रिय ! सामान्य लोगों को जो कार्य रूप क़ूजा प्याला में कल्पित अन्तर का भान होता है वह विद्यमान वा देखने मात्र है, बुद्धि-जन्य वा विचार से नहीं। और इस हेतु कि देखने मात्र भ्रम तत्त्वसाक्षात्कार से दूर हुआ करता है, बौद्धिक वा परोऽक्ष ज्ञान से दूर नहीं हुआ करता, इसी कारण विचारवान को भी यद्यपि वह देखने मात्र अन्तर असत् वा मिथ्या प्रतीत हो जाता है किन्तु वास्तव में दूर नहीं होता, क्योंकि उसका दूरीकरण विचारवान् पर भी तभी होता है जब कि वह उपादान कारण की असलियत को प्रत्यक्ष देखता वा

अनुभव करता है। देखो जिस व्यक्ति को प्राची दिशा (पूर्व) में प्रतीची दिशा (पश्चिम) का प्रत्यक्ष भ्रम हो जाता है, यद्यपि वह प्राची दिशा की असलियत का बौद्धिक वा परोऽक्ष ज्ञान रखता है, किन्तु जब तक उसको किसी कारण से ऐसा साक्षात्कार वा अपरोऽक्ष ज्ञान नहीं होता कि यही दिशा प्राची है, प्रतीची नही, तब तक इस भ्रम की विद्यमानता दूर नहीं होती। इसी तरह जब तक गुणातीत उपादान कारण का अपरोऽक्ष ज्ञान नहीं होता, तब तक यह कल्पित भेदता दूर नहीं होती, विचारवान को भी प्रतीत होती रहती है। और जिस समय आगामी युक्तियों से तुम को भी उपादान कारण का अपरोऽक्ष ज्ञान होगा, उस समय यह कल्पित भेद की विद्यमानता दूर होगी। इसी कारण तत्त्व वेत्ताओं में यह सिद्धान्त नियत हुआ है कि कल्पित रूप की निवृत्ति उसके अधिष्ठान स्वरूप के प्रत्यक्ष वा अपरोऽक्ष ज्ञान से ही होती है, बुद्धि जन्य ज्ञान वा परोऽक्ष ज्ञान से नहीं होती।

(१३६) ऐ श्वेतकेतु ! यदि तुम गुणातीत उपादान कारण के परोऽक्ष् ज्ञान की जिज्ञासा रखते हो, तो जानों कि जैसे कूज़ा, प्याला पारस्परिक भिन्न गुणों से सम्पन्न कार्य रूप हैं, कारण नहीं ; वैसे मृत्तिका, जल, अग्नि तीन तत्त्व भी, जो तत्त्ववेत्ताओं के निकट समस्त जगत के उपादान कारण सिद्ध हैं और साथही पारस्परिक भिन्न-भिन्न गुणों से सम्पन्न होने के कारण कार्यरूप भी हैं, उपादान कारण नहीं। और इस हेतु कि ये तत्व भी कार्य हैं, कारण नही, वरन् अपने उपादान कारण स्वरूप परमात्मा में तद्रूप हैं, अन्य नहीं, और वही (परमात्मदेव) वास्तव में जगत की स्थिति का अकेला उपादान कारण है, उसी के अपरोऽक्ष ज्ञान से यह कल्पित नानत्व दूर होती है।

(प्रयोजन) तात्पर्य ऋषिजी का यह है कि पहिले जगत के उस उपादान कारण का कि जिसको शास्त्र परमात्म देव नाम देता है, बौद्धिक और परोक्ष ज्ञान होना चाहिये, जिससे यह नानत्व मिथ्या भान हो जाय, और फिर उसका अपरोऽक्ष ज्ञाना होना चाहिये, जिससे यह मिथ्या नानत्व प्रतीत ही न हो।

(प्रयोजन) पहिले (परोऽक्ष) ज्ञान के लिये जिज्ञासु को यही उचित है कि जगत के पदार्थों के पारस्परिक अन्तर को मिथ्या निश्चय करे, तीन तत्त्वों में जगत की एकता का खयाल करे, और फिर पूर्वोक्त उदाहरणों से स्वयम् तत्त्वों में अन्तर देखता हुआ, तत्त्व भी कार्य है और उनका उपादान कारण स्वरूप "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म है" खयाल व निश्चय करे। और उन समस्त भूतों व भौतिक पदार्थों की एकता एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म में असली और सत है।

(प्रयोजन) इस विस्तृत व्याख्यान का तात्पर्य यह है कि "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" वास्तव में सत है और उसमें भूतों या भौतिक पदार्थों के नाम रूप जो जगत की असलियत है, उसी प्रकार कल्पित है जैसे कि सर्प की आकृति रज्जु में कल्पित होती है।

(प्रयोजन) यह ब्रह्म जो 'एकमेवाद्वितीयम्' है भिन्नता के विशेषण वाला नहीं, कार्य भी नहीं वरन् उपादान कारण है; इसी कारण यह ब्रह्म किसी उपादान कारण से उत्पन्न नहीं हुआ। इसी कारण ब्रह्म को तत्त्व या सत नाम से पुकारते हैं, और श्रुतिभगवती ने भी इसी को सत कहा है, और ब्रह्मविद इसीको चित्त, इसीको आनन्द, और इसीको आत्मा कहा करते है।

(१३७) ऐ श्वेतकेतु ! इस अद्वितीय ब्रह्म को श्रुतिभगवती केवल सत ही नहीं कहती, वरन् चित्त, आनन्द और आत्मा भी कहती है । और इन भिन्न-भिन्न शब्दों से तुमको भिन्न-भिन्न अर्थ न लेना चाहिये । वरन् एकही अर्थ अर्थात् समस्त भूतों और भौतिक पदार्थ का परम तत्त्व वही एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म जानना चाहिये, क्योंकि यदि इन भिन्न-भिन्न शब्दों का पारस्परिक अन्तर वा भिन्न-भिन्न अर्थ हम ग्रहण करेंगे तो जो-जो पदार्थ परस्पर भिन्न होते हैं, वे वास्तव में कार्य होते हैं । यदि ब्रह्म भिन्न अर्थ से स्वरूपतः भिन्न हो जायगा, तो वह वास्तव में कार्य होगा, और उसका उपादान कारण कोई दूसरा ब्रह्म वा तत्त्व होगा, इसी तरह यह क्रम दूर तक अवश्य चलता जायगा । अतः ज्ञात हुआ कि इसी ब्रह्म को श्रुति ने विविध नामों से स्मरण किया है, और नामों के इस अन्तर के कारण नामी या नाम वाले में अन्तर नहीं हो जाता ।

(१३८) हे भगवन् ! यदि सत्, चित्, आनन्द और आत्मा इन चारों शब्दों के अर्थ अकेला यही सब तत्त्वों और तात्विक पदार्थों का मूल तत्त्व (परब्रह्म) है, जिसको अद्वितीय और अधिष्ठान सिद्ध किया है, तो भिन्न-भिन्न प्रकार के चार नामों से उल्लेख करने में श्रुति का तात्पर्य क्या है ?

(१३९) ऐ श्वेतकेतु ! इस आत्मदेव में जो कल्पित असत का भ्रम हो रहा है, उसके दूर करने के लिये श्रुति ने उसे सत नाम से स्मरण किया है । और इसी आत्मदेव में जो कल्पित जड़ता की भ्रान्ति हो रही है, उसके दूर करने के लिये श्रुति भगवती ने चित् नाम से उसको पढ़ा है । और इसी-आत्मदेव में जो कल्पित दुःख सुख की भ्रान्ति हो रही है, उसके दूर करने

के लिये श्रुतिभगवती उसको आनन्द कहा करती है। और इसी आत्मदेव में जो कल्पित परिच्छिन्नता और उपाधि की भ्रान्ति हो रही है, उसी के दूर करने के लिये श्रुतिभगवती इसी को आत्मा या परम तत्त्व वर्णन करती है। इस प्रकार असतता, जड़ता, दुःख, दर्द और परिच्छिन्नता व उपाधि दूर करने के लिये इस एक अद्वितीय तत्त्व के यह चार प्रकार के नाम शास्त्र में प्रयुक्त हुए हैं।

(प्रयोजन) इन उक्त पंक्तियों वा पैरों का परिणाम अथवा उद्देश्य यह है कि जैसे आकाश में गन्धर्व-नगर मिथ्या उत्पन्न होता है, इसी प्रकार इस एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म में समस्त भूत और भौतिक पदार्थों के ये रूप मिथ्या उत्पन्न होते हैं। अतः इस दृश्य जगत् की असलियत इस कल्पित व मिथ्या नानत्व के रूप में एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म है। किन्तु ये भूत और भौतिक आकृतियाँ विद्यमान दिखाई देती हैं; इस लिये बुद्धिमानों को भूतों में संसार का उपादान कारण प्रतीत होता है, वास्तव में उपर्युक्त युक्तियों के अनुसार एक अकेला सत ही जगत का उपादान कारण है। अब इस हेतु कि बुद्धिमानों के निकट ये भूत सत हैं, और वास्तव में यह आत्मदेव सत का भी सत है, इस अर्थ के प्रमाण के लिये हम निम्न-लिखित युक्तियाँ पेश करते हैं।

(१४०) ऐ श्वेतकेतु! जैसे कि कूज़ा, प्याला, चीनी आदिक वर्तनों में मृत्तिका रूप उपादान कारण सदैव अपने स्वरूप से वर्तनों में प्रविष्ट हुआ दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा रूप सत्ता भी संसार के प्रत्येक दृश्य पदार्थ में अपने स्वरूप से प्रविष्ट हुई दिखाई देती है, क्योंकि यह क़ूज़ा है, यह प्याला है, और यह चीनी है, इस प्रकार का व्यवहार अस्तित्व मात्र

वा सत को उनमें दिखलाता है । यदि उनमें सत न होता, वरन् असत मात्र होता, तो यह ऐसा व्यवहार न होता, जैसा कि बन्ध्या-सुत में 'यह बन्ध्या-सुत है' ऐसा व्यवहार कोई नहीं करता । इससे ज्ञात हुआ कि आत्मा इस दृश्य संसार में सत का द्योतक हो रहा है । और जब संसार के अस्तित्व में उसका आविर्भाव नहीं होता, तो वह संसार अप्रत्यक्ष या असत्-मात्र होता दिखाई नहीं देता ; इसी कारण यह सत् आत्मा समस्त लोक परलोक का उपादान कारण है ।

(१४१) हे भगवन् ! अनुभव और साक्षात्कार से सिद्ध हुआ है कि जब रज्जु का साक्षात्कार होता है, तो सर्प की आकृति, जो कल्पित है, फिर दिखाई नहीं देती । और आपने सिद्ध किया है कि सत् आत्मा ही तत्व है और ये नाना नाम रूप जो उसमें दिखाई देते हैं, सर्प की आकृति की तरह कल्पित हैं, और संसार को देखते समय सत् आत्मा का ज्ञान भी होता है, क्योंकि यह कूज़ा है, यह जामा है, यह घोड़ा है, यह आदमी है, इनमें 'अस्तित्व' वा 'है' का व्यवहार मानों सत् आत्मा का ज्ञान है, किन्तु इस ज्ञान से संसार की कल्पित आकृतियों का सर्पाकृति के समान अभाव या बोध नहीं हो जाता, इसका कारण क्या है ?

(१४२) ऐ श्वेतकेतु ! यह साधारण लोगों का ज्ञान जो दृश्य संसार में सत् आत्मा का होता है, उसी प्रकार का है जैसे कि बच्चा सम्राट् को मनुष्य रूप से अनुभव करता है । और यह स्पष्ट है कि बच्चे का ऐसा देखना सम्राट् के भय और तेज का हेतु नहीं हो जाता, किन्तु जब माता-पिता बच्चे को समझाते हैं कि यह हमारा सम्राट् और स्वामी है, तो फिर बच्चा भी विनम्र होकर भय और तेज से प्रभावित हो जाता है ।

वैसेही सर्व-साधारण लोग इस सत् स्वरूप को दृश्य संसार में अस्ति-रूप करके तो देखते हैं, आत्मरूप करके नहीं देखते। और जब हमारे जैसे ब्रह्मज्ञानी लोगों से वह सुनते है कि यही सत्स्वरूप आत्मा है और फिर वे उसको प्रत्यक्ष अपने आप में आत्मरूप करके अनुभव करते हैं, जैसाकि आगे अध्यात्म विद्या में तुम को साक्षात् करावेगे, उस समय निस्संदेह यह कल्पित संसार का दृश्य उसी तरह उड़ जाता है, जैसे कि रस्सी को देखने से साँप का रूप उड़ जाता है।

(१४३) ऐ श्वेतकेतु! इससे यही सिद्ध होता है कि जैसे रज्जु के अज्ञान से सर्पाकृति दिखाई देती है, और जैसे आकाश के अज्ञान से गन्धर्वनगर आकाश में उत्पन्न होता है, वैसे ही आत्मदेव के अज्ञान से इसी सत्-स्वरूप आत्मदेव में जगत् पैदा होता है। और जिस प्रकार आकाश में गन्धर्वनगर वास्तव में विद्यमान नहीं होता, वरन् आकाश में वह गन्धर्वनगर नाम मात्र ही होता है, वैसेही इस आनन्द स्वरूप आत्मा में यह जगत् वास्तव में विद्यमान नहीं, वरन् आत्मदेव में यह जगत् केवल नाम-मात्र ही है। इसी कारण यह जगत् गन्धर्व-नगर के समान असत् ही है।

(१४४) ऐ श्वेतकेतु! जैसे कि त्रिकाल में असत् मात्र गन्धर्वनगर भी ख़याल के कारण किसी दोषदृष्टियुक्त मनुष्य को विद्यमान दिखाई देता है, वैसेही त्रिकाल में यह असत् मात्र जगत् आत्मदेव में विद्यमान नहीं हुआ तोभी दोषदृष्टियुक्त मूढ़ मनुष्य को यह असत् जगत् विद्यमान ही दिखाई देता है।

(१४५) ऐ श्वेतकेतु! जैसा कि बालकों को ख़याल के कारण वह गन्धर्वनगर आकाश में दिखाई देता है, और युवकों को आकाश गन्धर्वनगर से रहित शुद्ध पवित्र दृष्टिगोचर होता

है, इसी तरह सर्वसाधारण को आत्मदेव में यह जगत् गन्धर्व-नगर के समान विद्यमान दिखाई देता है। विशेष-विशेष व्यक्तियों को शुद्ध आत्माके सिवाय और कुछ नहीं दिखाई देता। इसी कारण साधारण लोग बन्धन में है और विशेष पुरुष मुक्त है।

(१४६) ऐ श्वेतकेतु ! जैसे स्वप्नावस्था में एक ही स्वप्न के देखनेवाला अनेक रूपों को धारण करके किसी रूप से बद्ध और किसी रूप से मुक्त होता है, वैसे ही यह अकेला आत्म देव अविद्या के सम्बन्ध से नाना रूपों को धारण करके किसी रूप से बद्ध और किसी रूप से मुक्त होता है।

(१४७) ऐ श्वेतकेतु ! जैसे कि स्वप्नावस्था में वास्तव में स्वप्न के देखनेहार में बन्धन और मोक्ष असली नहीं है, वैसे ही जाग्रत में उस आत्मदेव में वस्तुतः बन्ध या मोक्ष नहीं, तो भी अविद्या आवरण के दोष से वह अपने आप में बद्ध और मुक्त का बर्ताव करता है।

(१४८) ऐ श्वेतकेतु ! जो आत्मदेव बद्ध और मुक्त-रूप संसार को साक्षी होकर देखता है, वही आत्मा वास्तव में परम सत् है, और इस आत्मदेव से इतर यह दृश्य जगत मिथ्या या असत है।

(१४९) ऐ श्वेतकेतु ! इस संसार में जो समस्त नगर का देखने वाला है, वही द्रष्टा वास्तव में साक्षी है, और वही साक्षी समस्त जगत् का उपादान कारण है, और वही परम सत है। और जो इस संसार में दिखाई देता है, वही दृश्य या कार्य है, और वही नाम मात्र है, इसी कारण से असत है।

(१५०) ऐ प्रिय ! इसी तरह उस उपादान कारण पर-मात्म देव में परम सत्ता को मानकर अरुणी ऋषि ने अपने

पुत्र श्वेतकेतु को मिट्टी, सुवर्ण, लोहा, इन तीनों में अपने-अपने कार्य की अपेक्ष से सतरुपता कहते हुए बर्तन, भूषण, हथियारों में असतरुपता सिद्ध की।

(१५१) ऐ श्वेतकेतु! जैसे कि मिट्टी, सुवर्ण, लोहा, यह तीनों अपने-अपने कार्य-रूप बर्तन, भूषण, हथियारों के विचार से सत्य हैं, वैसे ही यह परमात्म देव मिट्टी, पानी, अग्नि, तीन तत्त्वों के विचार से बढ़कर सत का भी सत है। इसी कारण श्रुति भगवती उसे सत का भी सत कहती है। ऐसा परमात्म देव तुमको भी जानना चाहिए था, जिसके जानने से इस संसार में कोई वस्तु भी अजानी अर्थात् अज्ञात नहीं रहती, किन्तु तुमने ऐसा परमात्मदेव भूलसे अपने गुरुदेव से पूछा नहीं, इसलिये फिर गुरु के पास लौट जाओ, और उस परमात्म देव को जानकर फिर वापस आओ।

(१५२) हे भगवन्! मैं अपने गुरु से समावर्तन अधिकार का प्रमाणपत्र लेकर आया हूँ। और समावर्तन अधिकार गुरु तबही देता है जब अपनी समस्त विद्या को दे देता है। और इस हेतु कि उन्होंने समस्त विद्याएँ जितनी कि उनको ज्ञात थी, दे दी है, इसी से पता लगता है कि यह विद्या उनके पास नहीं। अब उनके पास लौट कर जाना व्यर्थ है। आप पिता से ही मैं उसको सुनना चाहता हूँ। और तब बहुत विनय और नम्रता से निवेदन किया।

(१५३) ऐ चंद्रमा के समान सुन्दर श्वेतकेतु! जो परमात्मदेव का स्वरुप श्रुति ने कहा है और जो परमात्म स्वरुप तुमने हम से पूछा है, उस स्वरुप का अब मैं उपदेश करता हूँ। अहङ्कार को दूर करके ध्यान दे कान लगाकर सुनो।

(१५४) ऐ श्वेतकेतु! यह समस्त जगत जो वस्तुतः

नाम-रूप और गति आत्मक देखने में आता है, वरन् सूक्ष्मता और स्थूलता का सार रूप जो शब्द सत् और असत् हैं, इन दो ही शब्दों से जो बोला जाता है, और इन दो ही शब्दों से जो सूक्ष्म ,स्थूल, अपरोऽक्ष और परोऽक्ष का ख़याल वा भान हो रहा है, यह सब दृश्य मात्र अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत ही था, वरन् सत और असत् इस प्रकार के ज्ञान से रहित था, उस समय यह कार्य रूप जगत अपने उपादान कारण स्वरूप सत् से पृथक् दृष्टिगोचर नहीं था।

(१५८) ऐ श्वेतकेतु! सत् शब्द से यहाँ तुम वह उत्तम पदार्थ ख़याल न करना कि जो न्याय-शास्त्र के लोगों ने ग्रहण किया है, क्योंकि वह पदार्थ वास्तव में कल्पित या ख़याली है जो ख़याल की दृष्टि से असल तत्त्व में आरोपित होता है, और जड़ है। और हमने जो यहाँ सत शब्द कहा है उससे वही सत आत्मा चिदानन्द-रूप समझना जिसका ऊपर हम उल्लेख कर आए हैं। क्योंकि यदि सत शब्द से वह उत्तम पदार्थ ख़याल किया जाय जिसे तर्क शास्त्री सत् मानता है, तो इस सत् का अभिप्राय जड़ होगा। और यह नियम सर्वत्र है कि जो जड होता है, वह भिन्न भी होता है, और जो भिन्न होता है, वह परिच्छिन्न भी होता है, और जो परिच्छिन्न होता है, वह कार्य भी होता है, और कार्य वास्तव में समस्त जगत का उपादान कारण नहीं हो सकता।

(१५६ ऐ श्वेतकेतु! जैसे सूर्य-उदय से पूर्व समस्त चतुर्दिशाओं में तम प्रसारित रहता है, वैसेही इस विश्व की उत्पत्ति से पूर्व यह सत्ताही शेष रहती है।

(१५७) ऐ श्वेतकेतु! जो यह सत् वस्तु संसार के आरम्भ में उपादान कारण वर्णन की है, इसी को वेदविद लोग

अव्याकृत कहते हैं। और यही अव्याकृत वास्तव में निर्गुण ब्रह्म है, जिसको सूफी लोग बे चूँ व चरा अर्थात् 'देश काल वस्तु से रहित' बोलते हैं। और इसी देशकाल वस्तु परिच्छेद से रहित में बुद्धि, मन और बाणी की गति नहीं हो सकती, ऐसा श्रुति भगवती उसकी स्तुति करती है। और यह वह सत् है कि जिस में देश काल सूक्ष्मता व स्थूलता का आदि कुछ नहीं था, वरन् जो समस्त गुणों से परे था, और अब भी वास्तव में देश काल और सूक्ष्मता या स्थूलता कोई गुण उसमें प्रतिष्ठ नहीं हुए, और भविष्य में उक्त गुणों का प्रवेश उस में कदापि सम्भव नहीं, और इस देश काल वस्तु से रहित में श्रुति भगवती जो भूतकाल का अध्यारोप करती है, कि "आरम्भ में यह सत् क्यों कब (देश काल वस्तु) से रहित था," वह जगत् की दृष्टि से करती है। और ऐसी कल्पित बातों से उसकी पवित्रता मे दोष नहीं आ जाता। या श्रुति भगवती श्रवण ज्ञान के कारण उसे भूतकाल से वर्णन करती है, और वह श्रुति यह है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् हे प्रिय ! जगत की रचना से पहिले यह केवल सत था, एक ही बिना दूसरे के।

(प्रयोजन)—यहाँ ऋषिजीने निर्गुण ब्रह्म को सत् शब्द से उपदेश किया है और इस हेतु कि यह निर्गुण ब्रह्म हर प्रकार के भेद से रहित है, इसलिये आगे भेद का संग जो उसमें भ्रान्ति से होता है, खण्डन करते है।

(प्रयोजन)—साधारण रीति से भेद दो प्रकार का होता है—भीतरी होता है या बाहिरी। अंश का अंशी में या अंग का अंगी में अन्तर भीतरी भेद कहलाता है, और इस भीतरी भेद को संस्कृत में स्वगत भेद बोला करते हैं। और बाहरी भेद

दो प्रकार का होता है—या स्वजातीय, या विजातीय। देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुदत्त में पारस्परिक अन्तर सजातीय भेद है ; क्योंकि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुदत्त वास्तव में भिन्न-भिन्न व्यक्ति मनुष्य-जाति के अन्तर्गत हैं; और मनुष्य और घोड़ा और गाय में अन्तर विजातीय भेद है, क्योंकि मनुष्य, घोड़ा और गाय किसी एक जाति की व्यक्तियाँ नहीं, वरन् तीनों भिन्न-भिन्न जाति है। अतएव वेदान्त की परिभाषा में सजातीय अन्तर को सजातीय भेद और विजातीय अन्तर को विजातीय भेद बोला करते है। और जितने प्रकार के भेद हैं, इन तीन ही भेदों के अन्तर्गत हैं, इसलिये ऋषिजी अब तीन भेदों का ही निर्गुण ब्रह्म में खण्डन वा अपवाद करते है।

(१५८) ऐ श्वेतकेतु ! यह निर्गुण ब्रह्म स्वगत-भेद से रहित है, अर्थात् जैसे कि वृक्ष पत्ती शाखा फूल पंखड़ी और बीज आदि नाम भीतरी अंश अंशी भाव रखते हैं, और उनमें भीतरी अन्तर होता है, वैसा भी यह (ब्रह्म) नहीं है। और जैसे गाएँ घोड़े अपने अपने सजातियों में भी भिन्न-भिन्न नाम के कारण भेद वाले होते है, वैसे भी यह ब्रह्म नहीं है, वरन् सजातीय भेद रहित है। और जैसे वह गाएँ घोड़े अपने-अपने विजातियों (हिरन, बकरी आदि) से भिन्न होते हैं, वैसे भी यह ब्रह्म नहीं है, वरन् विजातीय भेद से रहित है।

(१५९) ऐ श्वेतकेतु ! यह परमात्मदेव सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित है, इसी कारण वेदविद् महात्मा इस परमात्मा का नाम सत् या निगुण ब्रह्म कहा करते हैं।

(१६०) हे भगवन् ! यद्यपि सृष्टि के आरम्भ में इस ब्रह्म में जगत नही है, इस कारण उसमें सजातीय, विजातीय या स्वगत-भेद सिद्ध नहीं होता, तो भी उस समय इस ब्रह्म में

माया तो थी; यदि माया नहीं कहेंगे, तो उससे जगत् की उत्पत्ति असम्भव होगी; और यदि माया की कल्पना करें, तो माया से भिन्न होने के कारण विजातीय भेद उसमें सिद्ध होगा।

(१६१) हे प्रिय ! माया या असत् वास्तव में कोई वस्तु नहीं, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म मे अपने आपकी जो अध्यारोपित कल्पना है, वही वास्तव मे माया है। और यह स्पष्ट है कि रज्जु में सर्प के रूप की कल्पना से रज्जु विजातीय भेद से भिन्न नहीं हो जाती। अतः निर्गुण ब्रह्म मे जो अध्यारोपित कल्पना हो रही है, वही जगत की असलियत है। निर्गुण ब्रह्म वास्तव में सत्-चित्-आनन्द आत्म-स्वरूप है, और तीनों भेदों से रहित है। किन्तु ब्रह्म में जो असत, जड़, दुख, अनात्म स्वरूप की कल्पना उलटी हो रही है, और मृगतृष्णा की तरह नहीं हुआ जगत निजी कल्पनाओं से मूर्त्तिमान दिखाई दे रहा है, यही अध्यारोपित कल्पना वास्तव मे माया है, कोई सत् वस्तु नहीं, जिससे पारस्परिक भेद अवश्य होता है।

(१६२) कुछ पण्डित यह कहते है कि असत् से सत् हुआ है, इसलिये आरम्भ मं असत था। और यह कथन अज्ञान से है, क्योंकि असत से सत का होना कठिन ही नही किन्तु असम्भव है। यदि असत से सत का होना असम्भव नही तो अब भी वन्धया-सुत से सन्तान उत्पन्न होनी चाहिए और कर्ण की शाखा अथवा छलावा के सींग से धनुष बनाया जाना चाहिए, किन्तु यह असम्भव है। इसलिये यही सिद्ध है कि आरम्भ में सत था और इसी सत से यह सतवत प्रतीत होने वाला (जगत) उत्पन्न हुआ।

(१६३) मुसलमानी धर्म के विद्वान् भी वास्तव में यही

स्वीकार करते हैं कि जगत असत में था और असत से सत हुआ है, किन्तु अन्तर यह है कि वे लोग सत स्वरूप को पृथक कर्त्ता रुप मानते हैं और यों कहते हैं कि उस सत पुरुष ने असत से जगत को सत किया है, और उनका यह कथन भी उन्हीं लोगों के धर्म का अङ्ग है जो असत वादी या नास्तिक है, क्योंकि नास्तिक यही कहते हैं कि आरम्भ में असत था और असत से ही यह सत हुआ है। और इसलाम के विद्वान भी इसी कथन की पुष्टि करते हैं, इसी कारण वास्तव में भी नास्तिक वा सत के न मानने वाले हैं।

(१६४) हे भगवन्! इसलाम के विद्वान यद्यपि यह निश्चय करते हैं कि ईश्वर ने असत से जगत को सत किया है, किन्तु ईश्वर सत से इनकार नहीं करते, तो वे नास्तिक या सत के न माननेवाले किस प्रकार हो सकते हैं?

(१६५) हे प्रिय! मुसलमान लोगों की आस्तिकता केवल नाम-मात्र है, वास्तव में वह नास्तिक हैं। क्योंकि उनका तात्पर्य यह है कि जसे कुम्हार कूज़ा प्याला बनाता है, या जैसे जुलाहा कपड़े बुनता है, या जैसे चित्रकार चित्र बनाता है, वैसे वह परमेश्वर असत से जगत को सतरूप रचता है। और यह स्पष्ट है कि कुम्हार असत से बर्तन नहीं बनाता वरन् मिट्टी से बनाता है जो सत है, और जुलाहा कपड़ा असत से नहीं बनाता, वरन सत रूपी सूत में कपड़े की रचना करता है, और चित्रकार चित्र को असत से सत नहीं करता, वह रंग और तख्ती से उसको लिखता है। उनका यह कथन कि परमेश्वर असत से जगत को सत करता है, उनके उदाहरणों में ही सचाई नहीं उतरती। निदान यदि यह मान भी लिया जाय कि परमेश्वर असत से जगत को

उत्पन्न करता है, तो अन्तिम परिणाम यही निकलता है कि ऐसा परमेश्वर व्यक्तिगत सीमा से परिच्छिन्न है। क्योंकि उन विद्वानों का मन्तव्य और तात्पर्य यही है कि ईश्वर जगत का उपादान कारण नहीं जो जगत के रूप में प्रविष्ट हो, वरन् जगत का कर्त्ता है, जो जगत के रूप से भिन्न या बाहर है। और यह स्पष्ट है कि जो वस्तु जगत रूप से पृथक होगी, वह जगत की व्यक्ति के विचार से अपने व्यक्तित्व में भिन्न......और परिच्छिन्न होगी। और जो परिच्छिन्न होता है वह उत्पन्न होता है। और जो उत्पन्न होता है वह नाशवान वा मर्त्य भी होता है। और जो उत्पत्ति और विनाश वाला है वह जगत के अन्तर्गत है। अतः ऐसा ईश्वर या सत जगत का अङ्ग होगा।

(१६६) समस्त शास्त्रकारों की यह सम्मति है कि परिच्छिन्न तीन प्रकार से होता है—या तो काल परिच्छिन्न या देश-परिच्छिन्न या वस्तु परिच्छिन्न। जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो, वह काल-परिच्छिन्न होता है, जैसेकि आम्र-फल अपने ऋतु में होता है, भिन्न ऋतु में नहीं होता; तो आम्र वास्तव में काल की सीमा से परिच्छिन्न है। ओर जो वस्तु एक ही समय में एक स्थान में हो और दूसरे स्थान में न हो, ऐसी वस्तु देश—परिच्छिन्न होती है, जैसे अंगूर काबुल में होता है, हिन्दुस्तान में नहीं होता और ख़रबूजा हिन्दुस्तान मे होता है काबुल में नहीं होता, क्योंकि उनका अस्तित्व स्थान-विशिष्ट है. इसलिये यह वास्तव में देश-परिच्छिन्न है। और जो वस्तु अपने-अपने व्यक्तित्व में पृथक-पृथक विद्यमान है, और अपनी व्यक्ति की दृष्टि से दूसरी व्यक्ति से भिन्न है, और दूसरी व्यक्ति की दृष्टि से पहली व्यक्ति

उससे अन्य है, ऐसी वस्तुएँ वास्तव में वस्तु-परिच्छिन्न होती है। जैसे क़ूज़ा जामा नहीं, क्योंकि जामा की व्यक्ति क़ूज़ा की व्यक्ति से भिन्न है और क़ूज़ा की व्यक्ति जामा की व्यक्ति से भिन्न है, तो क़ूज़ा और जामा वास्तव में अपनीअपनी व्यक्ति की सीमा मे परिच्छिन्न होने से वस्तु-परिच्छिन्न हैं। ये तीनों प्रकार के परिच्छिन्न वास्तव में उत्पन्न होने वाले और नाशवान है।

(१६७) इसलाम के विद्वान जो परमेश्वर को जगत के रूप में प्रविष्ट स्वीकार नहीं करते वरन् उसे जगत से भिन्न जगत का कर्त्ता ख़याल करते है वास्तव में परमेश्वर को वस्तु परिच्छिन्न ठहराते है, क्योंकि जगत अपनी व्यक्ति करके भिन्न विद्यमान है और जगत का कर्त्ता परमेश्वर अपनी व्यक्ति करके पृथक विद्यमान है, जैसे कि क़ूज़ा अपनी व्यक्ति की दृष्टि से मिट्टी में अलग मौजूद है, और क़ूज़ा बनाने वाला अपनी व्यक्ति की दृष्टि से देह में अलग मौजूद है, और दोनों वस्तु परिच्छेद से परिच्छिन्न है। ऐसा विचार वास्तव में अज्ञान और भ्रान्ति है।

(१६८) मुसलमान लोग जो परमेश्वर को जगत से भिन्न ख़याल करते है, वह वास्तविक नहीं, काल्पनिक है। जैसे कि वह प्राय: उनऽक़ा नाम के पक्षी की भी कल्पना करते हैं, और वास्तव में उनऽक़ा पक्षी विद्यमान नही ; वैसे ही वह परमेश्वर जो जगत की व्यक्ति से भिन्न है क़ुरान और इञ्जील में लिखा आता है, किन्तु उनऽक़ा की तरह जगत की व्यक्ति से बाहर उसका नाम-निशान नही है। अत: ज्ञात हुआ कि मुसलमान लोग जो ईश्वर को स्वीकार करते हैं, वह उनऽक़ा की तरह नाम मात्र ही है। और इस सिद्धान्त में कि जगत असत से सत होता है ना-स्तिकों से मेल रखता हैं, इसलिये वस्तुनः यह सब नास्तिक हैं।

(१६६) बुद्धिमान् विद्वान्, जैसे कि तर्कशास्त्री और विज्ञानी लोग, उनको मूढ़ समझते हैं, क्योंकि उनके निकट सूक्ष्म युक्तियों और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हुआ है कि असत से सत का होना या असत से असत का होना असम्भव है। सत से ही सत होता है। देखो, वृक्ष बीज से निकलता है, मनुष्य वीर्य से उत्पन्न होता है, वर्तन मिट्टी से बनते हैं, भूषण सुवर्ण में कल्पित होते हैं और शस्त्रों की रचना लोहे से होती है; कोई भी वस्तु विना उपादान के विद्यमान नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि असत से सत का होना असम्भव है। और जो लोग असत से सत का होना मानते हैं, वे वास्तव में मूढ़ भोले-भाले और कुपढ़ हैं इसी कारण मुसलमान विद्वान अपने पैग़म्बरों को सन्मानपूर्वक "उम्मी" (कुपढ़) वर्णन करते हैं। और जो उम्मी होता है उसकी कल्पना ख़याली या कपोल कल्पित होती है, वास्तविक नहीं होती, और ये लोग शास्त्र से परिचित नहीं होते, किन्तु इस हेतु कि वह भी उस समय ज्ञान का दावा रखते हैं, इसलिये उनके विचारों से सचेत करने की दृष्टि से उन पर भी यथेष्ट संकेत किया गया है!

(१७०) तर्क-शास्त्री लोगों का यह मत है कि "तत्त्वों के परमाणु, देश और काल इत्यादि, वास्तव में तत्त्व वस्तुएँ और सत हैं। तत्त्वों के परमाणु वास्तव में जगत का उपादान कारण हैं, और ईश्वर उनका कर्ता रूप कारण है। जैसा वह तत्त्वों के परमाणुओं को जुलाहे की तरह सन्निकट और निर्माण करता है, वैसाही जगत बनता है, जिस प्रकार सूत के सन्निकट और निर्माण किये जाने से कपड़ा बनता है। इसी लिये ईश्वर जगत का कर्त्तारूप कारण है और तत्त्वों के परमाणु जगत का उपादान कारण है।" यह मत भी बिलकुल झूठा है, वरन् भेद-

वाद या द्वैत और नास्तिकता है। क्योंकि इस मत में भौतिक पदार्थ तत्त्व वस्तुएँ और सत कल्पित किए गए हैं, और अद्वैत से रहित हैं। श्रुति भगवती ब्रह्म को एक और द्वैतरहित स्वीकार करती है, वरन् स्पष्ट आदेश देती है कि "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म।" अर्थात् ब्रह्म एक ही है, अद्वैत मात्र है, उसका कोई दूसरा नहीं।

(१७१) श्रुति में जो शब्द 'एकम्' का है, वह सजातीय भेद का अपवाद करता है और 'एव' शब्द स्वगत-भेद का नाश करता है, और 'अद्वितीयम्' शब्द विजातीय भेद का अभाव करता है। श्रुति का उद्देश्य और तात्पर्य यह है कि वह व्यष्टि-समष्टि अथवा अङ्गी-अङ्गो रूप स्वगत भेद से परे है, न उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं; और न उसके सजातीय विद्यमान हैं, इस लिये वह सजातीयता के भेद से रहित है; और न उसके विजातीय विद्यमान हैं, इसलिये वह विजातीयता के भेद से भी रहित है।

(१७२) तर्क शास्त्र का जाननेवाला सृष्टि के आरम्भ में जिन ६ तत्त्वों की कल्पना करता है, वह पूर्वोक्त श्रुति के रोष और अपराध का कारण है। और जो विद्वान श्रुति की अधीनता व श्रुति की आज्ञापालन से निकलता है, वास्तव में दुर्दशा और नास्तिकता में पड़ता है। इसलिये तर्कशास्त्र का भी मत मिथ्या ही जानना उचित है।

(१७३) यह नहीं मान लेना चाहिए कि यद्यपि तर्कशास्त्रियों का अन्वेषण (तहक़ीक़ात) श्रुति के विरुद्ध है किन्तु बुद्धि के विरुद्ध नहीं। वरन् सांख्य-शास्त्री और विज्ञानी लोगों ने उसके तर्कों का खण्डन करके परमाणुवाद को मिथ्या कर दिया है, और पदार्थों तथा भूतों की उत्पत्ति एक आकृति और परम

तत्त्व (उपादान) से सिद्ध की है, जिससे भली भाँति सिद्ध होता है कि उस (तर्कशास्त्री) का मत श्रुति और बुद्धि के विरुद्ध है।

(१७४) परमाणु वाद के मिथ्या होने में सांख्य शास्त्री यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि परमाणु उसको कहते हैं, जिसका और अणु न हो सके। हम प्रश्न करते हैं कि जब परमाणुओं से जगत उत्पन्न होता है, तो अवश्य है कि जब दो परमाणु परस्पर मिश्रित हों या मिले, तो एक कोन उसकी मिली होगी और दूसरी अलग। यदि दोनों कोने मिली हों, तो उससे शरीर उत्पन्न नहीं होगा, वरन् एक अंश का दूसरे अंश में उतरना वा नितान्त तद्रूप होना आवश्यक होगा। शरीर तब ही उत्पन्न होगा, जब एक कोन परमाणु का मिलती हो और दूसरी न मिलती हो। और इस हेतु कि तर्क शास्त्री परमाणुओं के संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, सिद्ध होता है कि परमाणु एक ओर से सम्मिलित होते हैं और दूसरी ओर से असम्मिलित। और जो वस्तु दो दिशाएँ रखती है वह विभाग और टुकड़े-टुकड़े किये जाने के योग्य है। उस को परमाणु नहीं कहना चाहिए, वरन् ये वह सूक्ष्म अणु हैं कि जिनके आगे भी विभाग या अणु निकल सकते हैं। और जो वस्तु विभक्त स्वरूप या अणु वाली है, वह सनातन या सत् नहीं। इस से ज्ञात हुआ कि जगत् परमाणु और भूतों से निर्मित नहीं हुआ वरन् अणु और भूत स्वतः उत्पन्न हुए पदार्थ हैं, और उसका उपादान कारण वही परम तत्त्व या सत् है।

(१७५) जबकि उपर्युक्त तर्क से परमाणुओं का मिथ्यात्व स्पष्ट होता है, तो इस से यह बात निकलती है कि सब भूत

और भौतिक पदार्थ वास्तव में आकृति और परम तत्त्व (उपादान) से संयुक्त हैं, क्योंकि बक (भभका) यन्त्र द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि पानी हवा हो जाता है और हवा पानी हो जाती है। और वैसा ही दीपक की लौ वा ज्वाला में विवेचना की दृष्टि से सिद्ध हुआ है कि अग्नि हवा हो जाती है और हवा अग्नि हो जाती है, क्योंकि दीपक की लौ में, जो सीधी ऊर्ध्वगामी है, अग्नि हवा में परिवर्तन पाती है; और असली लौ में, जो बत्ती के निकट उस से मिली हुई है, पास की हवा अग्नि के रूप में परिवर्तित होती जाती है। ऐसी अवस्था में दीपक की ज्वाला जलती रहती है। ऐसे ही नियमानुसार, जब दीपक एक बर्तन में रख कर ऊपर से ढाँप दे, तो बुझ जाता है। क्योंकि तब ताजी हवा जो परिवर्तित रूप (अग्नि) का उपादान कारण है उस में प्रविष्ट नहीं हो सकती। इस के अतिरिक्त प्रत्यक्ष देखने और अनुभव से सिद्ध होता है कि जब बिजली गिरती है तो अग्नि पत्थर के रूप में परिवर्तित हो जाती है, और पृथ्वी धुवाँ वा भाप के बाद हवा हो जाती है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाणों और अनुभवों से सिद्ध हुआ है कि उक्त चारों तत्त्व (भूत) एक दूसरे के रूप में बदल जाते व परिवर्तित हो जाते हैं। और क्योंकि यह परिवर्तन व बदलना अकेले अधिष्ठान में होता है, इसलिये यही अकेला अधिष्ठान उपादान कारण या परम तत्त्व (सत्) है। और आकृतियाँ, जो उसमें परिवर्तित और विकृत होती हैं, रूप मात्र हैं। और यह अकेला परम तत्त्व (उपादान) विशेष रूप से संयुक्त हुआ उसी विशेष पदार्थ के नाम से बोला जाता है। जैसे अकेले परम तत्त्व में जब अग्नि की आकृति सम्मिलित होती है, तो अग्नि रूपी आकृति के मिल जाने के विचार से

वही एकमेवाद्वितीयम् रूप तत्त्व अग्नि-तत्त्व होता है, और उसी में जब अग्नि-रूप का बाध या अभाव होकर मृतिका-आकृति का मेल होता है, तो वही मिट्टी की आकृति के मेल के विचार से पृथ्वी-तत्त्व कहा जाता है। और उसमें जब मिट्टी की आकृति का अभाव और वायुकी आकृति का मेल होता है, तो वही वायु की आकृति के मेल के विचार से वायु तत्त्व बोला जाता है। और उसी में जब वायु की आकृति जल रूप में परिवर्तित होती है, तो वही जल की आकृति के मेल के के विचार से जल-तत्त्व कहा जाता है।

(१७६) रसायन शास्त्र के द्वारा (जिस को आज-कल के विद्वान् कैमिस्टरी बोलते हैं) सिद्ध हुआ है कि चारों तत्त्वों में दो-दो दशाएँ हैं, क्योंकि मिट्टी शीतल और रूक्ष (ख़ुश्क) है; और जल शीतल और तर (आर्द्र) है; और वायु उष्ण और तर है; अग्नि उष्ण और ख़ुश्क है। इन चारों तत्त्वों में जिस दशा की कमी होती है, वह तत्त्व अपनी आकृति को उसी तत्त्व की आकृति में बदलता है जो उस से उस दशा में संयुक्त होता है। जैसे मिट्टी और पानी शीत में तो सम्मिलित हैं और रूक्षता तथा तरलता में विभिन्न। अतः यदि रसायन शास्त्र के द्वारा मिट्टी में रूक्षता की कमी कर दें, तो मिट्टी जल के रूप में हो जाती है, जैसे कि खनिज वर्ग के पिघलने में उसका भली भांति अनुभव होता है, क्योंकि सोना चाँदी इत्यादि नाम वाले खनिज वर्ग को जब सोहागा के द्वारा अग्नि में गलाया जाता है तो वह जल के रूप में परिवर्तित हो जाता है. और इसके अतिरिक्त तेज़ाब इसकी भली भाँति पुष्टि करते हैं। और जब पानी से तरलता की कमी होती है, तो पानी पृथ्वी अर्थात् मिट्टी के रूप में उत्पन्न हो जाता है। इसका अनुभव ओला

और बरफ में भली भाँति होता है। और इसी नियम से यदि मिट्टी से शीतलता को कम किया जाय, तो वह अग्नि रूप में प्रगट होती है, जैसे सूखी लकड़ी जब जलाई जाती है तो अग्नि के रूप में परिवर्तित हा जाती है। और जब अग्नि को शीतल किया जाता है, तो राख पृथ्वी के रूप में हो जाती है। और वैसे ही बिजली गिरी हुई पाषाण के रूप में विद्यमान हो जाती है। निदान इसी नियम से तत्त्वों का परिवर्तन एक दूसरे में होता है।

(१७७) इस हेतु कि रसायन शास्त्र द्वारा तत्त्वों का एक दूसरे में परिवर्तन सिद्ध होता है, और जौर जो वस्तुएँ परिवर्तित होती हैं उनमें अवश्य एक अधिष्ठान होता है, यदि उनका परिवर्तन एक अधिष्ठान में नहीं होगा तो परिवर्तन का उल्लेख नहीं होगा। जैसे एक क़लमदान से यदि क़लम निकाला जावे और उसमें उसकी जगह चाक़ू रख दिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि क़लम से चाक़ू बदल गया। यदि क़लम क़लमदान से निकाल लिया जाय और उसके बदले में चाक़ू संदूक में रख दिया जाय तो यह निश्चय नहीं होगा कि क़लम चाक़ू से बदल गया, वरन् यह निश्चय होगा कि क़लम खो गया और संदूक में चाक़ू नया मिला। किन्तु तत्त्वों में एक दूसरे का परिवर्तन निश्चय होता है, इससे सिद्ध होता है कि कोई एक अधिष्ठान निर्विकार वा अविनाशी है जिसमें रूपों का यह परिवर्तन होता है, और वही अधिष्ठान वास्तव में परम तत्त्व या उपादान है, और जो आकृतियाँ कि उस अधिष्ठान पर परस्पर एक दूसरे में बदलती हैं वह रूप कहलाती है। अतः सिद्ध हुआ कि भूतों और भौतिक पदार्थों की असलियत वास्तव में नाना

रूपों से संयुक्त परम तत्त्व है, और यही इस जगत का सार है, परम गुणों से यह संयुक्त नहीं।

(१७८) सांख्य-शास्त्र के जानने वाले परम तत्त्व को पुरुष बोलते है और आकृति को प्रकृति कहा करते हैं। और विज्ञान शास्त्र के वेत्ता पुरुष को उपादान या परम तत्त्व और प्रकृति को आकृति कहा करते हैं। और वास्तव में इनकी जाँच लगभग ब्रह्म ज्ञानियों कीसी है, किन्तु अन्तर यह है कि आकृति (प्रकृति) और परम तत्त्व (पुरुष) को वह (सांख्य शास्त्र वाले) अनादि तत्त्व अर्थात् सनातन वस्तु निश्चय करते है; और पुरुष को अधिष्ठान तथा प्रकृति को उसमें विद्यमान पदार्थ मानते हैं, यद्यपि ब्रह्मज्ञानियों के निकट अधिष्ठान की असलियत जिसको परम तत्त्व या पुरुष बोलते है, एक सत्य और अविनाशी वस्तु है, और वह विद्यमान आकृति की असलियत जिसको रूप या प्रकृति नाम से बोलते हैं, केवल देखने मात्र है, सत्य नहीं। और यह रूप जो देखने मात्र है अपनी स्थिति (अस्तित्व) में दीन और आरोपित है, अधिष्ठान में वस्तुतः विद्यमान वा प्रविष्ट नहीं। जैसा कि रज्जु में सर्प की आकृति देखने मात्र है, वास्तव में मौजूद (विद्यमान या प्रविष्ट नहीं होती, वरन् आरोपित और दीन दिखाई देती है। इसी तरह अस्तित्व में देखने मात्र रूप आरोपित और दीन दिखाई देता है, अतः जगत का सार या तत्त्व वास्तव में एक सत वस्तु है जो वाह्य आकृतियों से विविध रूपों में दिखाई देती है।

(१७९) जिस तत्त्व को विज्ञानी और सांख्य शास्त्री लोगों ने परम तत्त्व या पुरुष नाम दिया है, उसी तत्त्व को श्रुति भगवती सत या वस्तु नाम देती है। और इस हेतु कि सृष्टि आरम्भ होने से पहिले यह देखने मात्र (वाह्य) रूप ठीक सत

या वस्तु मात्र था, इसी कारण श्रुतिभगवती स्पष्ट कहती है कि यह नाम रूप मात्र जो जगत सा दिखाई देता है, आरम्भ में सत या वस्तु था, अतः ज्ञात हुआ कि जिसको विज्ञानी लोग सत या उपादान या परम तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म वेत्ता वस्तु नाम देते हैं, किन्तु इतना अन्तर है कि विज्ञानी लोग उपादान वा परम तत्त्व को अज्ञान स्वरूप वा जड़ निश्चय करते हैं, और ब्रह्म ज्ञानी सत को अज्ञान स्वरूप वा जड़ नहीं निश्चय करते, वरन ऐसा मानते हैं कि सत ठीक ज्ञान स्वरूप या चेतन है, और चेतन ठीक स्वरूप है। परन्तु तमोमय रूपों के प्रकट होने के कारण तम उसमें दीन और आरोपित दिखाई देता है जैसा कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान तमोमय और अचेतन सिद्ध होता है।

(१८०) ऐ श्वेतकेतु! विज्ञानी जो सत में तम को देखता है, उसी अज्ञानता के कारण देखता है जैसा कि दिन के प्रकाश में उल्लू अन्धेरी रात देखता है। अतः जिस प्रकार दिन के प्रकाश में अन्धकार को देखने वाली उल्लू की आँख है, इसी तरह सत आत्मा में तम देखने वाली उन (विज्ञानियों) की बुद्धि ही है। जैसे:—

"गर न बीनद बरोज़ बपरा चश्म।
चश्मेह-आफ़ताब रा चेह गुनाह॥"

گر نہ بیند بروز شپرہ چشم چشمۂ آفتاب را چہ گناہ

अर्थात् यदि दिन के प्रकाश में उल्लू की आँख कुछ न देखे, तो इसमें प्रकाश स्वरूप सूर्य का क्या अपराध है।

(१८१) ऐ श्वेतकेतु! जैसे कि सूर्य वास्तव में अन्धकार रहित है, किन्तु अस्तकाल में जब वह मनुष्यों के नेत्रों की ओट में होता है, तो उसमें रात का अन्धकार मनुष्य देखते हैं, इसी

तरह विज्ञानी लोगों को जो सत का साक्षात्कार वस्तुतः नहीं हुआ, इसी कारण उसमें वे अपने ही अन्धकार को देखते है।

(१८२) ऐ श्वेतकेतु! जब सूर्य उदय होता है और सूर्य का दर्शन होता है, तो फिर अन्धकार नहीं दिखाई देता, इसी तरह जब विज्ञानी लोग श्रुतिभगवती के द्वारा इस सत को आत्मरूप करके साक्षात् करते हैं, फिर उन्हे उसमें अज्ञानान्धकार नहीं दिखाई देता, वरन् वास्तव में जिस प्रकार सूर्य अन्धकार रहित है, उसी तरह सत आत्मज्ञान-स्वरूप है और अज्ञान रूप तम से रहित है। और जैसे सूर्य को अन्धकार त्रिकाल में स्पर्श नहीं करता, वैसे ही अज्ञान वा अविद्यान्धकार इस सत आत्मा को त्रिकाल में स्पर्श नहीं करता; तब भी जिस प्रकार सूर्य-ग्रहण के समय चन्द्रछाया से सूर्य में अन्धकार स्पर्श भ्रान्ति-मात्र होता है, इसी तरह साक्षात्कार होने से पूर्व अविद्या का अन्धकार बुद्धिमानों और विज्ञानियों को भी इस सत आत्मा में भ्रान्ति मात्र होता है।

(१८३) जिस प्रकार सूर्य में ग्रहण के समय देखनेवाले की आँखों पर चंद्रमा स्वयं परदा होता हुआ सूर्य में भ्रान्ति रूप तथा अज्ञानमय अन्धकार दिखाता है, वैसे ही अज्ञानियों का स्वयम् अज्ञान उनकी बुद्धि पर आवरण होता इस सत आत्मा में अज्ञानान्धकार दिखाता है, वास्तव में अज्ञान या अन्धकार सत आत्मा में स्पर्श नहीं करता।

(१८४) विज्ञानी लोग यह वर्णन करते हैं कि जब एक आकृति नाशमान होती है, दूसरी आकृति उसी प्रमाण की तत्काल उसमें उत्पन्न वा प्रकट हो आती है, इस लिये उपादान या परमतत्त्व रूप रहित पाया नहीं जाता, वरन् इसी कारण यह उनके निकट सिद्ध हुआ है कि रूप अपने अस्तित्व में

उपादान के अधीन है और उपादान अपने व्यक्तित्व में रूप के अधीन है, और उनका यह अज्ञान नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जब महाप्रलय होती है, उस समय कोई भी रूप वा आकृति इस देव में नहीं होती, वरन् सब रूपों का प्रलय वा नाश ही वस्तुतः सच्ची महाप्रलय है।

(१८५) ब्रह्मज्ञानी लोग यह कहते हैं कि महा प्रलय के समय जब समस्त रूपों या आकृतियों का लय वा विनाश होता है, तब एक सत या परमतत्त्व स्थिर होता अर्थात् बाक़ी रहता है, किन्तु समस्त रूपों की संक्षिप्त अवस्था उसमें संकुचित रूप से रहती है, और यही अज्ञान या माया प्रकृति कहलाती है।

(१८६) इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अज्ञानान्धकार उस में मेल पाता है, वरन् जिस प्रकार संसार की विविध आकृतियाँ उस में प्रकट और आरोपित होती हैं, इसी तरह अन्धकार, जो वास्तव में नाना व्यक्त रूपों की संक्षिप्त अवस्था है, उस में प्रकट और आरोपित सिद्ध होता है। और इस हेतु कि यह अन्धकार आत्मा को अपने स्वरूप में मूढ़ वा अज्ञानी और तमोमय सा कर दिखाता है, और अज्ञानता वा बेख़बरी का कारण होता है, विद्वान् लोग इसी को अज्ञान या अविद्या बोलते हैं। और इस हेतु कि यही अन्धकार विस्तृत हुआ जगत रूप में दिखाई देता है, इसी को आत्मदर्शी माया बोलते हैं, और सूफी लोग इसी को क़ुदरते-कामिला वा हिकमते-बालिग़ा कहते हैं।

(१८७) आत्मदर्शियों के निकट श्रुतिभगवती के आदेशानुसार यह निश्चय हुआ है कि आत्मा वास्तव में वर्ण रहित और उपाधि रहित दर्पण की भाँति है, जो रङ्ग उस में प्रकट होता है, उसी को ग्रहण-सा कर लेता है। और यह माया

वास्तव में लाल, सफेद और काला इन तीन रंगों की संक्षिप्त वा संकुचित अवस्था है। और यह स्पष्ट है कि जब तीनों रङ्गों को मिलाया जाय तो एक काला रंग ही सिद्ध होता है, और इस तीनों रंग के संक्षेप को ही माया बोलते हैं। यद्यपि माया उत्पन्न वस्तु नहीं किन्तु विद्यमान होती है, इसी कारण श्रुति-भगवती इसको उत्पत्ति रहित या अनादि वर्णन करती है, क्योंकि उसका निकास आत्मा से उसी प्रकार का है जैसा कि सूर्य से धूप निकलती है।

(१८८) वेदान्तविदों का तात्पर्य यह है कि धूप सूर्य से निकलती है, उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उत्पत्ति में कारण को काल की प्रथमता देनी आवश्यक होती है। परन्तु विद्यमान होने में यद्यपि काल की प्रथमता का देना अवश्यक नहीं होता, तो भी कारण स्वरूप की प्रथमता उचित होती है; जैसे सूर्य जो धूप का कारण है, धूप से काल की प्रथमता नहीं रखता वरन् जिस क्षण में सूर्य पाया जाता है, उसी क्षण में धूप पाई जाती है। इस कारण धूप सूर्य से उत्पन्न नहीं तो भी सूर्य को धूप का कारण और उसका धूप से प्रथम होना निश्चय किया जाता है, इसलिये धूप सूर्य से निकली है, उत्पन्न नहीं।

(१८९) माया भी आत्मा में उत्पन्न नहीं, क्योंकि आत्मा को माया से काल की प्रथमता सिद्ध नहीं, तो भी आत्मा को निजी प्रथमता है, इससे माया आत्मा से अवश्य विद्यमान हुई है। और दूसरे उदाहरण में धूप का निकास स्वयम् कारण है, क्योंकि सूर्य का स्वरूप ही धूप का निकालने वाला या लाने वाला है, जब तक कि सूर्य विद्यमान होगा, धूप भी दूर नहीं होगी, किन्तु आत्मा माया का स्वयम् कारण या असली कारण नहीं, क्योंकि ज्ञान वा आत्म-साक्षात्कार के समय माया

दूर हो जाती है, वरन् ज्ञानियों के साक्षात्कार में उसका त्रिकाल में नाश सिद्ध होता है, इसी कारण आत्मा में कारण का प्रयोग नहीं होता, वरन् वह कारण कार्य दोनों से परे है, तब भी कारण-कार्य, माया और जगत् का वह अधिष्ठान वा आश्रय है।

(१६०) इस व्याख्या से यह परिणाम निकलता है कि कारण शब्द का प्रयोग वस्तुतः माया पर है और माया के खयाल से आत्मा में भी व्यवहारिक रूप से कारण बोला जाता है, और इस हेतु कि माया सत् वस्तु नहीं, वरन् स्थितिमात्र है, इसलिये उसको आत्मा से विद्यमान हुई खयाल किया जाता है, और उसे प्रकृति या शक्ति वर्णन किया जाता है, परन्तु गुण अपने स्वरूप (गुणी) से या शक्ति अपने स्वरूप (शक्तिवान्) से दूर नहीं हुआ करती, जैसा कि धूप सूर्य के स्वरूप से दूर नहीं होती; और यह माया ज्ञानियों से दूर होती है, इसलिये यह आत्मा की गुण या शक्ति भी नहीं, वरन् गुण मात्र वा आधेय मात्र, मिथ्या है।

(१६१) श्रुतिभगवती माया की असलियत में अनुत्पन्न ठीक तीन रंग रक्त, श्वेत और कृष्ण तथा जगत् की नाना रचना का कारण वर्णन करती है—

"अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां स्वरूपाः इ०

अर्थ—माया उत्पत्ति रहित है और ठीक लाल सफ़ेद काले रंग की सत्यता स्वरूप है, और बहुत प्रजा को उत्पन्न करने वाली है। उसको एक अनुत्पन्न (जीव) व्यवहार करता है और दूसरा अनुत्पन्न (आत्मा) उससे परे है।

(१६२) वेदान्तवेत्ता लोग इसी लाल रंग को रजोगुण, सफ़ेद रंग को सतोगुण और काले रंग को तमोगुण नाम दिया

करते हैं, और इसीको हमने अपनी रची पुस्तकों में कल्पना, भास मात्र और आवरण नाम से प्राय: अनुवाद किया है। क्योंकि यही लाल रंग संकल्प विकल्प के समय ख़याल वा कल्पना के रूप में दिखाई देता है, और यही श्वेत (रंग) विवेचना के समय भासने या समझ के रूप में स्पष्ट होता है, और यही काला (रंग) विवेचना के अभाव के समय आवरण या अज्ञान के रूप में स्पष्ट होता है।

(१६३) इस कथन वा व्याख्या का पात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ में ये तीन गुण या वर्ण संक्षेप रूप से आत्मा में सिद्ध थे, इसी कारण आत्मा को वेदविद् अव्याकृत नाम देते हैं। और वह अकेला अव्यक्त उस समय विद्यमान था, जब इन उक्त तीन गुणों या रंगों में फैलने की चेष्टा हुई। उसी को वेदवेत्ता लोग इच्छा और सूफी लोग इरादह नाम देते हैं।

(१६४) इस फैलने की चेष्टा में यह संकल्प हुआ कि "मैं अकेला हूँ, बहुत हो जाऊँ"। उस समय तीनों रंग जो सक्षिप्त वा संकुचित रूप से विद्यमान थे, तत्काल विस्तृत और विद्यमान हुए। लाल रंग जब आत्मा में विद्यमान हुआ तो इस रंग से आत्मा अग्नि के रंग रूप में रंगा हुआ कल्पित हुआ। फिर सफेद रंग जब आत्मा में विद्यमान हुआ तो आत्मा इस रंग से जल रूप में रंग हुआ कल्पित हुआ। और फिर काला रंग जब आत्मा में विद्यमान हुआ तो आत्मा इस रंग से रंगा हुआ पृथ्वी-रूप में दिखाई दिया। इस कारण अग्नि, जल, मिट्टी तीन भूत आत्मा से उत्पन्न हुए या निकले, और फिर इन तीनों की मिलावट से आध्यात्मिक और आधिभौतिक जगत उत्पन्न हो गया।

(१६५) हे भगवन्! तैत्रीय उपनिषद में आकाश,

वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति श्रुति ने कही है और इस छान्दोग्य श्रुति में तीन तत्त्व अग्नि, जल और मिट्टी की उत्पत्ति लिखी है, इससे दोनों श्रुतियों का परस्पर विरोध सिद्ध हुआ।

(१६६) हे प्रिय! श्रुतियों का तात्पर्य उत्पत्ति में नहीं है, वरन् मन्तव्य श्रुतियों का यह है कि कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, केवल अद्वैत ब्रह्म कल्पित उपाधियों से उसी तरह जगत रूप दिखाई देता है जैसे कि स्वप्न में स्वप्न का देखने वाला कल्पना के रूपों से संसार रूप दिखाई देता है। इस हेतु कि श्रोता या बुद्धिमानों की बुद्धि में सृष्टि दिखाई देती है, श्रुति भगवती उनकी बुद्धि के अनुसार अध्यारोप करती है। इस हेतु कि कुछ के निकट पाँच तत्त्व हैं और कुछ के निकट चार और कुछ के निकट तीन, इसी कारण श्रुतियाँ उनकी कल्पना के अनुसार आत्मा में भूतों या भौतिक पदार्थों का अध्यारोप करती है।

(१६७) जिन लोगों के निकठ आकाश और वायु दो पृथक तत्त्व हैं, उनकी बुद्धि के अनुसार तैत्रीय श्रुति पांच तत्त्वों का अध्यारोप करती है। और जो बुद्धिमान आकाश वा खाली स्थान को असम्भव मानते हैं और प्रत्यक्ष के ही मानने वाले है और हवा को पानी का अधूरा अथवा निर्मूल उपादान ख़याल करके जल तत्त्व में प्रविष्ट करते हैं, और चक्षु इन्द्रिय के विचार से केवल तीन तत्त्वों के ही मानने वाले हैं, उनकी इस संक्षिप्त दृष्टि के विचार से छान्दोग्य श्रुति ने तीन ही तत्त्व वर्णन किए है। इस श्रुति का तात्पर्य आकाश और वायु का अभाव करके तीन तत्त्व मानना नहीं, वरन् आकाश और वायु को इन तीन तत्त्वों में प्रविष्ट और अन्तर्गत वस्तु कल्पित करके माया के तीन-गुणों के अनुसार, जो कि तत्त्वों

का आरम्भ वा निकास है, तीन ही तत्त्वों की उत्पत्ति वर्णन की है।

(प्रयोजन)—वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है। जैसे रज्जु में जो सर्प-रूप का दिखलावा है वास्तव में अध्यारोप है, क्योंकि वस्तु वास्तव में रज्जु है और सर्प का रूप अवस्तु है, तो भी यह सर्प किस प्रकार उत्पन्न हुआ और इसकी क्या असलियत है, यह वार्तालाप, जो रज्जु की असलियत के जानने वाले की है, अध्यारोप कहलाती है, क्योंकि वास्तव में वह सर्प उत्पन्न तो हुआ नहीं, तो भी उस भ्रमित की भ्रांति के निवारणार्थ इस रहस्य का ज्ञाता जो पहले उस भ्रमित की कल्पित वस्तु को मान लेता है और फिर भ्रमित के कल्याणार्थ उन्हीं स्वीकृत भ्रमों के लाञ्छन पूर्ण उत्तर से भ्रम दूर करता है, और यही भ्रम-निवारण अध्यारोप के मुक़ाबिले में अपवाद कहलाता है। अतः जहाँ शास्त्र में अध्यारोप और अपवाद का शब्द आता है, उससे यही असलियत व आशय लेना चाहिए। और इस हेतु कि अध्यारोप में दूसरे की कल्पनाओं वा ख़यालों के अनुसार बातों का स्वीकार करना होता है, श्रुति का विरोध भी अध्यारोप में उसी प्रकार का है, क्योंकि श्रुति की दृष्टि में तो कुछ भूत या भौतिक पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए।

(प्रयोजन)—अब तीनों तत्त्वों की उत्पत्ति की प्रक्रिया भी बुद्धिमानों की मानी हुई बातों के अनुसार श्रुति जैसे स्पष्ट करती है, उसको ऋषिजी वर्णन करते हैं।

(१६८) ऐ श्वेतकेतु! सत् ब्रह्म ने पहले अग्नि तत्त्व को उत्पन्न किया, फिर जल तत्त्व को उत्पन्न किया। और फिर मिट्टी तत्त्व को उत्पन्न किया, जिसको श्रुति ने अन्न नाम दिया

है। इस प्रकार अग्नि, जल, मृत्तिका को उत्पन्न करके आप उनके सार (उपादान) में उनका आत्मा रूप होकर संयुक्त हो गया।

(१६६) ऐ श्वेतकेतु! इस बात का अनुभव कि "सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म से अग्नि, अग्नि से जल और जल से मृत्तिका उत्पन्न हुई" अब भी बुद्धिमानों को होता है, क्योंकि जब गरमी अधिक होती है, तो वह घोर वृष्टि का कारण होती है, और अधिक वृष्टि अधिक अन्न और वनस्पति की उत्पत्ति का कारण होती है। अतः उष्णता जल की उत्पत्ति का कारण है और जल पृथ्वी वा धरती की उत्पत्ति का कारण है।

(२००) ऐ श्वेतकेतु! तत्त्वों की प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में सूक्ष्म दृष्टि से स्पष्ट होता है कि तरलता और शुष्कता वास्तव में कार्य वा कारण हैं और उष्णता ही कर्ता है, इन्हीं कारणों वा कार्यों की भिन्न-भिन्न अवस्था से प्रत्येक वस्तु की संसार में उत्पत्ति है। और तरलता वास्तव में जल की असलियत है, शुष्कता वास्तव में मिट्टी की असलियत है, और उष्णता वास्तव में अग्नि की असलियत है। इस हेतु कि सूक्ष्म दृष्टि से उष्णता ही प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में कर्त्ता है, इससे भी सिद्ध होता है कि सब से पहिले आत्मा से उष्णता का ही स्पष्टीकरण वा प्रादुर्भाव हुआ है और तरलता तथा शुष्कता उसके पश्चात् निकलते हैं।

(२०१) हे भगवन्! संसार के उपादान कारण के तत्त्वों का जो अपने विचार किया है, उसका फल क्या है?

(२०२) ऐ पुत्र! इस विचार का फल यह है कि जिस प्रकार तत्त्व प्रत्येक पदार्थ में उपादान कारण होकर पदार्थों की असलियत और स्वरूप में प्रविष्ट हैं, उसी प्रकार अकेला सत्

परमात्मा तत्त्वों का भी उपादान कारण हुआ तत्त्वों की असलियत और स्वरूप में प्रविष्ट है। अतः प्रत्येक वस्तु में वह परमात्मा कारण का भी कारण और स्वरूप (आत्मा) का भी स्वरूप (आत्मा) है, और प्रत्येक तत्त्व या पदार्थ उसी का ही रूप हैं, जैसा कि सुवर्ण के भूषण सुवर्ण ही होते हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ को वही (परमात्मा) निश्चय करना चाहिए। यही इस विचार का फल है।

(२०३) ऐ श्वेतकेतु! जैसे कूज़ा, प्याला और चीनी आदिक वर्तनों में मिट्टी कारण रूप होकर प्रविष्ट होती है, वैसे ही तेज, जल, पृथिवी इन तीनों तत्त्वों में वह परमात्मा पहले कारण रूप होकर प्रविष्ट हुआ है, क्योंकि उसकी बहुत होने की इच्छा व संकल्प, जो कि अनादि में हुआ है, इन तत्त्वों में दिखाई देता है।

(२०४) देखो जब परमात्मा ने एक से अनेक होने का संकल्प किया, तब पहले अग्नि उत्पन्न हुई। फिर अग्नि ने संकल्प किया कि जल हो जाऊँ, तब जल हो गया। और फिर जलने संकल्प किया कि मृत्तिका हो जाऊँ, मृत्तिका उत्पन्न हो गई। यदि वह परमात्मा इन तत्त्वों में प्रविष्ट न होता, तो अग्नि संकल्प करने के योग्य नहीं हो सकती थी, वैसे जल मृत्तिका भी संकल्प करने के योग्य नहीं हो सकता था, क्योंकि वे जड़ व अचेतन हैं, और इच्छा या संकल्प जड़ या अचेतन में नहीं होता, जीवित या चेतन में ही होता है। और तत्त्वों का संकल्प सृष्टि के आरम्भ में सुना जाता है, इससे सिद्ध हुआ कि परमात्मदेव तत्त्वों की आकृति के आवरण में प्रकट हुआ है और श्रुति भगवती तत्त्वों की इच्छा व संकल्प स्पष्ट वर्णन करती है— "तत्तेज ऐक्षत" जिसका अर्थ यह है कि अग्नि ने देखा अर्थात्

संकल्प किया। अतः संकल्प बिना चेतन के असम्भव है, इससे अग्नि में चेतन सिद्ध होता है।

(२०५) संकल्प की असलियत वास्तव में इच्छा है, और तत्त्वों में इच्छा या जलाने इत्यादि के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, और इस हेतु कि यह इच्छा प्रबल या संकल्प दृढ़ है, जिस को संस्कृत में सत संकल्प बोलते हैं, विज्ञान-शास्त्र के विद्वान् इस प्रबलता के विचार से उस को सन्कल्प नहीं कहते, वरन् प्राकृतिक इच्छा नाम देते हैं। वास्तव में असलियत की दृष्टि से वह ईश्वरी सन्कल्प ही है। यदि वह चेतन उनमें न होता तो यह सन्कल्प (इच्छा) भी उनमें न होती, और विज्ञान-शास्त्र के पण्डितों ने इसी चेतन को स्वभाव नाम दिया है।

(२०६) बेचारा विज्ञानी पण्डित, जो वास्तव में असलियत को नहीं पहुँचा, इसी चेतन देव को, जो तत्त्वों में प्रविष्ट है, स्वभाव नाम से पुकारता हुवा उसकी असलियत में आश्चर्य-वत हो रहा है। कुछ विज्ञानी पण्डित स्वभाव की असलियत के विषय में यह कहते हैं कि वह एक विशेष तात्त्विक शक्ति है जो उन तत्त्वों को उसी विशेषण में प्रेरती है। जैसे जल और मृत्तिका गुरुत्वाकर्षण अर्थात् पृथिवी की ओर स्वभावतः खिंचे हुये हैं, और वायु तथा अग्नि आकाश या मण्डल की ओर स्वभावतः प्रेरित हैं। इस प्रकार की खींच या प्रेरणा स्वाभाविक शक्ति के कारण से है, और वह कोई अविनाशी वस्तु है जो तत्त्वों में केन्द्रित है।

(२०७) कुछ विज्ञानी पण्डितों की यह सम्मति है कि वह एक दिव्य शक्ति है जो तत्त्वों और पदार्थों में प्रेरणा वा स्वाभा-विक इच्छा का कारण है, किन्तु वह शक्ति चेतन (समझदार) नहीं, क्योंकि यदि वह चेतन (समझदार) होती, तो जब हम

कड़वी औषधि शरीर के कल्याण के लिये देते हैं तब वह वमन द्वारा उसे न निकालती। इस हेतु कि वह शरीर के कल्याण-कारी को कटुता वा कुस्वादुता के कारण वमन द्वारा निकाल देती है, अतः वह चेतन वा समझदार नहीं।

(२०८) जिस प्रकार कोई-कोई आचार्य, जैसे अफलातून और अरस्तु इत्यादि, उसे दिव्य शक्ति मानते हैं, उसी प्रकार वैश्वानरी विद्या के हिन्दू पण्डित उस को देवता निश्चय करते हैं, किन्तु उसको अचेतन (बेसमझ) नहीं समझते । और जिस-जिस तत्त्व या पदार्थ की उपाधि में वह दिखाई देता है, उसी उपाधि वा रूपके विचार से उस का नामकरण करते हैं। जैसे अग्नि में केन्द्रित अग्नि-देवता कहलाता है, जल में केन्द्रित वरुण देवता कहलाता है, और भूमि में केन्द्रित भू-देवता कहलाता हैं ।

(२०९) इस (वैश्वानरी) विद्या के विद्वान् यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाणों और अनुभव से सिद्ध होता है कि जब एक वृक्ष के नीचे दूसरा वृक्ष पैदा होता है, तो अपने विकास में टेढ़ा हो जाता है । और उसका कारण यही है कि वह वह यह समझ रखता है कि पहले वृक्ष की शाखायें उसके सीधा बढ़ने में बाधक होंगी । यदि वह इस बात का ज्ञान न रखता होता, तो टेढ़ा भी न होता। इससे सिद्ध होता है कि तात्त्रि शक्ति या देवता, जो तत्त्व या पदार्थों में केन्द्रित है, चेतन (समझदार) है ।

(२१०) अग्नि में जब कोई लाभदायक वस्तु पड़ती है, तो वह भी जल जाती है, और स्वस्थ शरीर में जब कड़वी औषधि दी जाती है तो क़ै (वमन) हो जाती है । इस प्रकार की युक्ति अग्नि की अचेतनता पर लागू बिल्कुल नहीं, वरन् उलटा उस विद्वान (चिकित्सक) की अचेतनता व बेसमझी पर

लागू है कि जो अग्नि को अचेतन मानता है। क्योंकि अज़माई हुई औषधि चिकित्सक के अपने अनुभव और अनुमान के आधार पर शरीर के लिये कल्याणकारक सिद्ध है, विशेषतः उसका हाल चिकित्सक नहीं जानता, वरन् स्वभाव ही जानता है। इसलिये जब जैसा उचित होता है वैसा ही वह (स्वभाव) उसमें अधिकार जमाता है। और इसी प्रकार लाभदायक वस्तु तो मानुषी दृष्टि से लाभदायक है, अग्नि की दृष्टि से लाभ-दायक और अलाभदायक दोनों बराबर हैं। इस हेतु कि जलाने की इच्छा या प्रेरणा उस में सत-संकल्प है, वह लाभदायक और अलाभदायक दोनों को बराबर जलाती है।

(२११) उक्त विद्वानों का यह मत है कि जो गुण जिस वस्तु का बदलता नहीं, वह गुण वास्तव में प्राकृतिक वा स्वाभाविक होता है। और जो गुण उचित या आवश्यक समय बदल जाता है, वह चेतन का वा समझ का होता है, स्वाभाविक नहीं होता। देखो, अग्नि और जल में स्वाभाविक विरोध स्पष्ट दिखाई देता है (आग जलाती है, पानी आग बुझाता है), परन्तु तत्त्वों की बनावट में वह स्वाभाविक विरोध प्राकृतिक अविरोध या समानता अनुभव होती है। यदि वह स्वाभाविक गुण तत्त्वों की बनावट में न बदलते तो परस्पर सम्मिलित तत्त्वों का उत्पन्न होना कठिन वा असम्भव होता। इस हेतु कि तत्त्वों के सम्मेलन में उन के परस्पर विरोध का अविरोध रूप हो जाना सिद्ध है, इस लिये उन के प्रभाव वा गुण स्वाभाविक नहीं बल्कि चेतनता के या समझ के हैं। इस लिये प्रत्येक पदार्थ में स्वाभाविक गुण वास्तव में उस पदार्थ का देवता है, और वह चेतनता और संकल्प से युक्त है।

(२१२) ऐ श्वेतकेतु ! इस प्रकार पण्डित और विद्वान् लोग

तत्त्वों और पदार्थों में उस परमात्मा का प्रवेश न जानते हुए उस को प्रत्येक पदार्थ के वेष और रूप में वेषधारी देखते हुए कोई शक्ति, कोई प्रकृति, और कोई देवता मान लेता है। वहाँ परमात्मा इन समस्त नाम-रूपों में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक पदार्थ के रूप में प्रकट हुआ है। और इस रहस्य को श्रुति भगवती ही जानती है।

(२१३) हे भगवन् ! यदि परमात्मा पहले तत्त्व और पदार्थों में भी प्रविष्ट हुआ है, तो मनुष्य की उत्पत्ति में जो श्रुति उसका प्रवेश वर्णन करती है, उसका क्या कारण है ?

(२१४) ऐ श्वेतकेतु ! तत्त्वों और पदार्थों में जो उसका प्रवेश है, वह आधिभौतिक व कारण रूप प्रवेश है, और इस प्रवेश में उसका प्रादुर्भाव (प्रकाश) सोपाधिक और दर्शन अज्ञानमय है। और मनुष्य-शरीर में जो उसका दुबारा प्रवेश है वह आध्यात्मिक वा कार्यरूप-प्रवेश है, और इस प्रवेश में उसका प्रकाश व अनुभव निरुपाधिक होता है। कारण-रूप प्रवेश में उसका प्रादुर्भाव वा प्रकाश सर्व शक्तिमान वा सर्व-गुण सम्पन्न नहीं, इस आध्यात्मिक वा जीव रूप प्रवेश में उसका प्रकाश सारी शक्ति और गुणों का निधान है। इसी कारण श्रुति भगवती मनुष्य में दुबारा प्रवेश जीवरूप से वर्णन करती है। वह पहिला प्रवेश कारण रूप प्रवेश इसलिये है कि सब भूत और भौतिक पदार्थ अपनी स्थिति में उसी प्रवेश के पूर्णतया अधीन हैं।

(२१५) ऐ श्वेतकेतु ! कारण रूप प्रवेश में वह प्रकट हुआ प्राण नहीं हुआ था, इस दूसरे प्रवेश में वह प्राण पर भी अधि-कार व सवारी रखता है, और प्राण-धारण के कारण ही वेद-वेत्ता ब्राह्मण उसको जीव नाम देते हैं।

(२१६) ऐ श्वेतकेतु ! जो चेतन, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, इन पँच प्राणों को धारण करता है और बार-बार जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है, शुभा-शुभ कर्मों के फलों को भोगता है, और बन्ध-मुक्ति को प्राप्त करता है, वही चेतन जीव कहलाता है।

(२१७) ऐ श्वेतकेतु हृदयकमल में जो अन्तःकरण है, इसमें जो चेतन 'अहं भाव' से प्रकट हो रहा है, उसी अन्तःकरण की उपाधि से उपाधिधारी चेतन को शास्त्र में जीव कहा करते हैं।

(२१८) हे भगवन् ! यदि जीव की उपाधि केवल अन्तःकरण ही मान ली जाय, तो घनसुषुप्ति में अन्तःकरण का अभाव हो जाता है, तो ऐसी दशा में जीव का भी घनसुषुप्ति में अभाव होना चाहिए। और जीव का नाश सिद्धान्त में स्वीकार नहीं।

(२१९) ऐ श्वेतकेतु ! घनसुषुप्ति में अन्तःकरण का अभाव तत्कालीन होता है, नित्य के लिये नहीं होता, इसी कारण वही अन्तःकरण फिर जाग्रत में विद्यामान होता है। यदि घनसुषुप्ति में नित्य के लिये उसका अभाव हो जाता, तो फिर उसका आविर्भाव जाग्रत में न होता, वरन् किसी नूतन अवस्था का प्रकाश होता, और पहली जाग्रत अवस्था के अनुभव इस नूतन अंतःकरण में अङ्कित न होते। चूँकि पहली जानी हुई बातों की स्मृति दूसरी जाग्रत में होती है, इसके ज्ञात होता है कि वही पहला अन्तःकरण है। और यह तब ही हो सकता है कि जब अन्तःकरण जित्य के लिये नाश नहीं होता। और इस हेतु कि अन्तःकरण नित्य के लिये नंष्ट नहीं होता, जीव भी नाशमान नहीं होता।

(प्रयोजन) अन्तः करण की इस स्थाई अवस्था को

शास्त्र में "वासना" बोला करते हैं। आगे जहाँ "वासना" लिखेंगे, यही अन्तः करण की स्थाई अवस्था जान लेना।

(२२०) हे भगवन्! यदि अन्तःकरण और वासना को ही जीव की उपाधि स्वीकार कर देंगे, तो अन्तःकरण और वासना तो भिन्न-भिन्न विद्यमान हैं, जीव भी भिन्न-भिन्न होने चाहिएँ। और श्रुति भगवती एक ही जीव वर्णन करती है कि "एक ही जीव चेतन इस माया के अनुकूल और अधीन हुआ, उसी में बर्ताव करता है।" और यह कथन आपका इस श्रुति के विरुद्ध होगा।

(२२१) ऐ श्वेतकेतु ! कारण माया में जो परमात्मा का प्रवेश पहला है, माया की उपाधि के ख़याल से वही एक ईश्वर कहलाता है। कारण रूप माया में जो कार्यरूप विविधि अन्तःकरण हैं, और यह सिद्धान्त है कि कार्य अपने कारण का तद्रूप होता है, इस लिये नाना अन्तःकरण वास्तव में माया रूप ही हैं, और वही परमात्मा माया रूपी अन्तःकरण में उसी तरह प्रवेश करता है जिस तरह विविधि दर्पणों में एक ही ज्योति अनेक रूप से प्रवेश करती है। अतः जिस प्रकार एक दीपक प्रत्येक दर्पण के ख़याल से प्रतिबिम्ब कहलाता है, वैसे ही एक परमात्मा अन्तःकरणों के खयाल से जीव कहलाता है; यद्यपि वह अनेक अन्तःकरणों की दृष्टि से अनेक सा दिखाई देता है, तो भी वास्तव में ज्ञान की दृष्टि से एक अकेला ही है, इस तरह श्रुति से विरोध नहीं होता।

(प्रयोजन) अविद्या या अज्ञान की उपाधि से युक्त जो चेतन है, उसको शास्त्रकार 'कूटस्थ' कहते हैं। और अन्तःकरण जो अविद्या या अज्ञान का कार्य है, उसमें उसी कूटस्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः कूटस्थ, अन्तःकरण और कूटस्थ का

प्रतिबिम्ब जो अन्तःकरण में पड़ता है, यह सब मिल कर जीव कहलाता है, अर्थात् अन्तःकरण विशिष्ट चेतन तदाभास जीव कहलाता है। और इस हेतु कि जीव की असलियत में कूटस्थ भी प्रविष्ट है, जो कि पहला प्रवेश है, इस दृष्टि से वह एक अकेला ही है, यद्यपि दूसरा, प्रवेश, अर्थात् अन्तःकरणों के प्रतिबिम्ब, की दृष्टि से अनेक सा दिखाइ देता है।

(२२२) ऐ श्वेतकेतु ! कारण रूप अविद्या से विशिष्ट जो कूटस्थ चेतन है उसकी कार्य रूप अन्तःकरण से विशिष्ट चेतन के साथ सदैव अभेदता होती है। यदि उसकी अभेदता सदैव न होती तो जब अन्तःकरण अज्ञान या अविद्या से उत्पन्न होती है तो उसमें कूटस्थ का प्रतिबिम्ब भी दिखाई न देता। और इस हेतु कि घनसुषुप्ति से जागृत में अन्तःकरण अज्ञान या अविद्या से निकलता है और चिदाभास अर्थात् चेतन का प्रतिबिम्ब उसी क्षण में अन्तःकरण के भीतर दिखाई देता है, इससे सिद्ध होता है कि अन्तःकरण विशिष्ट चेतन का अज्ञान वा माया विशिष्ट चेतन से सदैव अभेदता रखता है।

(२२३) ऐ श्वेतकेतु ! इसी कारण से अन्तःकरण के नाश से जीव का नाश नहीं होता, और अन्तःकरण के पैदा हुए जीव की उत्पत्ति भी नहीं होती। और जिन लोगों को अन्तः-करण के नाश से जीव के नाश और अन्तःकरण की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति का भ्रम हुआ है, वह इसी प्रकार का भ्रम है जैसा कि दर्पण के सन्मुख होने से मुख की उत्पत्ति का भ्रम होता है, और दपण के दूर होते समय रूप के नाश का भ्रम होता है, यद्यपि रूप न वास्तव में उत्पन्न होता है न नाश।

(२२४) ऐ श्वेतकेतु ! यद्यपि भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में विराजमान जीव-आत्मा भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देता है,

तो भी वह जीव-आत्मा अन्तःकरण के उपादानकारण-रूप अज्ञान में अहंता का खयाल भी उसी प्रकार रखता है जिस प्रकार कि अन्तःकरण में अहंता का खयाल रखता है ; इसी कारण घनसुषुप्ति में वह जीव सुषुप्ती-अवस्था या अज्ञान और अचेतन दशा में रहता है, और वह (जीव) अज्ञान या अज्ञान-जन्य अन्तःकरण की वासना से विशिष्ट अकेला ही है, और निज आत्मसाक्षात्कार के विना उन (अन्तःकरणों) का नाश नहीं होता। इसी अज्ञान की उपाधि के खयाल से शास्त्रकार जीवात्मा को एक कहा करते हैं और पुरातन कहा करते हैं।

(२२५) ऐ श्वेतकेतु ! जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं का कारण जो सन्स्कार-रूप कर्म-वासना है, और सोच विचार रूप अन्तःकरण का कारण जो संसकार रूप ज्ञान-वासना है, उन समस्त वासनाओं की मूल या असल यही अज्ञान है, और इस अज्ञान के नाश से जब उपर्युक्त समस्त वासनाओं का नाश होता है, तब ही यह जीवात्मा मुक्त होता है या मोक्ष को प्राप्त होता है।

(२२६) ऐ श्वेतकेतु ! इस धरती में जितने वृक्ष हैं, उन वृक्षों में जिसकी जड़ धरती से उखड़ जाती है, वही वृक्ष नाश हो जाता है, शेष वृक्ष नाश नहीं होते। इसी तरह इस माया या अज्ञान में जो प्रत्येक अन्तःकरण की वासनारूपी जड़ है, उसमें जिस अन्तःकरण की वासना-रूपी जड़ उखड़ जाती है, वही अन्तःकरण "जीवन मुक्त" नाम से अभिहित होता है, शेष अन्तःकरण "जीव" नाम से बन्धन में पूर्ववत् रहते हैं। इस कारण एक की मुक्ति से सब की मुक्ति नही हो जाती। इसी कारण से वैराग्य वा त्याग और तप-व्रत ही जिज्ञासुओं

के लिये उचित है। इस मार्ग के सिवाय दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

(२२७) हे भगवन्! अपने पहले अकेला जीवात्मा वर्णन किया, अब फिर कुछ जीव-मुक्त और कुछ जीव-बद्ध वर्णन किये; और अकेले जीव में कुछ मुक्त कुछ बद्ध, यह कठिन समस्या व विषय फिर विस्तार से समझाइये। मेरी समझ में भलीभांति नहीं आया।

(२२८) ऐ श्वेतकेतु! इस अकेले जीव में कुछ मुक्त और कुछ बद्ध का भेद उसी प्रकार का है जैसा कि स्वप्न-काल में यह अकेला स्वप्न देखनेवाला, अज्ञान या निद्रा के कारण अनेक रूपों को धारण करके किसी आकृति और देह की दृष्टि से बन्ध को प्राप्त होता है और किसी रूप की दृष्टि से मुक्त को प्राप्त होता है; वैसा ही यह अकेला जीवात्मा माया के विचित्र आवरण से अनेक रूपों और अन्तःकरणों को धारण करता हुआ किसी रूप में मुक्त और भाग्यवान्, और किसी रूप में बद्ध और दुर्भाग्य होता है। और जिस प्रकार स्वप्न के दूर होने से फिर स्वप्न के बन्ध और मोक्ष उस स्वप्न के देखने-हार में प्राप्त नहीं होते, उसी तरह इस आनन्दरूप आत्मा के साक्षात्कार के पश्चात् फिर बन्ध और मोक्ष दोनों उसमें प्राप्त नहीं होते, वरन् दोनों से वह रहित होता है। इस व्याख्यान से यह परिणाम निकलता है कि जीवों का जो पारस्परिक अन्तर और जीवों का जो परमात्मा से अन्तर दिखाई देता है, यथार्थ में देखने मात्र के है, असली नहीं, वास्तव में यह जीवात्मा ठीक ब्रह्म ही है।

(२२९) हे भगवन्! आपने जो समस्त तत्त्व और पदार्थों में परमात्मा का प्रवेश वर्णन किया है, यह सम्भव

नहीं ; क्योंकि प्रवेश परिच्छिन्न का ही होता है, और परमात्मा आपने अपरिच्छिन्न या अनन्त वर्णन किया है। इस आपत्ति का क्या उत्तर है ?

(२३०) ऐ पुत्र ! परमात्मा का प्रवेश जो श्रुति ने तत्त्व और पदार्थों में वर्णन किया है, वह प्रवेश शारीरिक नहीं, वरन् विद्यमान वा देखने मात्र प्रवेश है। हे प्रिय ! जैसे सर्प अपने विवर (बिल) में घुसता है, या पक्षी अपने वास-स्थान में प्रविष्ट होता है, ऐसे परमात्मा देह या देहधारियों में प्रविष्ट नहीं हुवा, वरन् जिस प्रकार उपादान कारण अपने कार्यों में प्रविष्ट होता है वैसे ही प्रविष्ट हुवा है। देखो, सुवर्ण जैसा सुवर्ण के भूषणों में प्रकट होता है और मिट्टी जैसे मिट्टी के बर्तनों में दिखाई देती है, और लोहा जैसे लोहे के शस्त्रों वा औजारों में प्रविष्ट होता है, वैसा ही परमात्मदेव तत्त्व और पदार्थों में प्रविष्ट हुआ है।

(२३१) ऐ श्वेतकेतु ! जैसा कि आकाश कूजा, प्याला और गृह में प्रविष्ट होता है, वैसा ही परमात्मदेव प्रत्येक तत्त्व और पदार्थ में प्रविष्ट हुवा है ; या जैसा भ्रान्ति के समय रज्जु सर्परूप में प्रविष्ट होती है, वैसा ही परमात्मदेव नानारूप और उपाधियों में प्रविष्ट हुवा है ; या जैसा स्वप्न के देखनेवाला स्वप्नावस्था में स्वप्न के प्रत्येक रूप में प्रविष्ट होता है, वैसा ही परमात्मदेव सब नाम-रूपों में प्रविष्ट हुवा है।

(२३२) ऐ श्वेतकेतु ! जैसे तुम घनसुषुप्ति में अपने शरीर में सामान्य प्रवेश रखते हो और जाग्रत-काल में उसी शरीर में सामान्य प्रवेश के अतिरिक्त विशेष प्रवेश भी करते हो, इसी तरह परमात्मदेव समस्त तत्त्व और पदार्थों में

सामान्य प्रवेश करते हैं, और मनुष्य में दुबारा प्रवेश अर्थात् विशेष प्रवेश होता है।

(प्रयोजन) खाली घट में जो आकाश की उपाधि है, इस दृष्टि से घट की उपाधि से परिच्छिन्न आकाश संस्कृत में घटाकाश कहलाता है, और फिर जब घट को पानी स भरा जाता है और आकाश का प्रतिबिम्ब घट के पानी में दिखाई देता है, वह प्रतिबिम्ब सहित घटाकाश के जलाकाश कहलाता है। अतः आकाश का खालीघट में प्रवेश, जो घटाकाश रूप से है, सामान्य प्रवेश है, और जो प्रतिबिम्ब के पश्चात् जल में जलाकाश-रूप से प्रवेश है, विशेष प्रवेश है। इसी तरह परमात्मा का तत्त्व व पदार्थ और मनुष्य देह में जो प्रवेश है वास्तव में उपाधि में प्रवेश है और वह प्रवेश सामान्य है, क्योंकि जैसा जड़ खनिज और वनस्पति वर्ग में वह प्रविष्ट है, वैसा मनुष्य की देह में भी प्रविष्ट है, किन्तु जलवत् अन्तःकरण और बुद्धि की असलियत रूप मनुष्य-शरीर में परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, खनिजवर्ग और वनस्पतिवर्ग मे नहीं पड़ती। और जिस तरह घट में जलाकाश आकाश का विशेष प्रवेश है, इसी तरह अन्तःकरण में परमात्मा का विशेष प्रवेश है।

(२३३) ऐ श्वेतकेतु! जिस तरह घटाकाश रूप से आकाश का प्रवेश सामान्य है और जलाकाश रूप से आकाश का प्रवेश विशेष है; इसी तरह तत्त्व और पदार्थों में परमात्मा का प्रवेश सामान्य है और अन्तःकरण से विशिष्ट मनुष्य शरीर में प्रवेश विशेष है।

(२३४) परमात्मा का प्रथम सामान्य प्रवेश तत्त्व और पदार्थों की स्थिति निमित्त है, और यह विशेष प्रवेश जगत् के पदार्थों की रचना और अभिमान निमित्त है, और इस

विशेष प्रवेश का अन्तिम परिणाम आत्म-साक्षात्कार व आत्म ज्ञान है। इसी कारण आत्म-साक्षात्कार और आत्मज्ञान की सम्भावना मनुष्य में ही निश्चित हुई है।

(२३६) ऐ प्रिय! मनुष्य-रूप में विशेष प्रवेश का गुप्त रहस्य अपना ही साक्षात्कार है, जैसा कि दर्पण की बनावट से तात्पर्य मुखका देखना होता है। और चूँकि दर्पण की बनावट में काष्ठ आदि का पहले प्रस्तुत करना होता है और फिर उसमें दर्पण का टुकड़ा लगाकर हाथ में उठाया जाता है, जिससे उसमें रूप दिखाई दे; इसी प्रकार परमात्मा ने तत्त्व और परमाणुओं को बनाया, और मनुष्य के अन्तःकरण को दर्पण-खण्ड के समान मनुष्य शरीर में सम्बन्धित करके अपना स्वरूप उसमें देखा। अतः तत्त्वों और परमाणुओं में परमात्मा का पहला प्रवेश, दर्पण की चौखट के समान जो हाथ में धारण की जाती है, जगत की स्थिति निमित्त है; और दूसरा प्रवेश प्रतिबिम्ब के रूप में है, जो दर्पण में आप ही उतर आता है।

(२३६) जिस प्रकार चौखट आदि दर्पण की रक्षा के लिये तैयार होते हैं, इसी तरह तत्त्व और परमाणु मनुष्य के अन्तःकरण के निमित्त परमात्मा ने तैयार किये हैं। ऐ श्वेतकेतु! जिस प्रकार दर्पण बनाने वाला चौखटे की लकड़ियों को पहले विचार कर काटता है और मन में खयाल करता है कि इस प्रकार की तरकीब में दर्पण भली भाँति रह सकेगा; उसी तरह परमात्मा ने जब सूक्ष्म तत्त्वों को उत्पन्न किया, तो फिर उसमें दूसरे प्रवेश के निमित्त यह विचार किया कि अपने-अपने काम में नियत वा विशिष्ट जो यह आग, पानी, मिट्टी में तत्त्व हैं, उनमें प्रविष्ट हुआ मैं परमात्मा प्रत्येक वस्तु के नाम

और रूप को नियत करके प्रकट करूँ। और यह तब ही हो सकता है कि जब उनको संयुक्त और समिश्रित करके एक उचित आकृति बनाऊँ।

(२३८) ऐ श्वेतकेतु ! जब परमात्मा ने उनका सम्मिश्रण और मिलाप चाहा, जिससे उचित मानुषी आकृति उत्पन्न हो, उस समय प्रत्येक तत्त्व को नौ-नौ भाग पर विभक्त किया, और एक-एक (नवाँ) भाग प्रत्येक का प्रत्येक में मिला दिया, इस प्रकार सात-सात भाग प्रत्येक तत्त्व के और दो-दो भाग दूसरे तत्त्वों के उनमें सम्मिलित हुए, और वह सूक्ष्म तत्त्व स्थूल तत्त्व हो गए, और इसी सम्मिश्रण, और संयोग को छान्दोग्य श्रुति में "त्रिवृतकरण" लिखा है। और फिर इन्हीं सम्मिश्रित तत्त्वों से संसार को उत्पन्न किया।

(२३६) बुद्धिमान् मनुष्य यदि ध्यान पूर्वक नाम रूप संसार को देखें, तो तत्त्वों का यह सम्मिश्रण और सम्मेलन प्रत्यक्ष भी हो सकता है। देखो अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजली उन में सात-सात भाग तो अग्नि तत्त्व के हैं और दो-दो भाग पानी और पृथ्वी के हैं, क्योंकि जो लाली उन पदार्थों में दिखाई देती है वह वास्तव में अग्नि तत्त्व का भाग है, और जो सफेद उनमें दिखाई देती है, वह वास्तव में एक भाग पानी तत्त्व का है, और जो स्याही यथा स्थूलता उनमें दिखाई देती है, वह एक भाग पृथ्वी तत्त्व का है।

(१३६) इसी प्रकार भूमि व खनिज वर्ग तथा वनस्पति वर्ग में पृथ्वी तत्त्व का सात् अंश है, और पानी तथा अग्नि का एक-एक अंश है। ऐसे ही नदी, दूध, छाँछ इत्यादि द्रव्यों में जल तत्त्व का सात अंश और शेष तत्त्वों का एक-एक अंश है।

इसी कारण शास्त्र-कार अग्नि, सूर्य, चाँद, बिजली और स्वर्ण आदि पदार्थों को, जिनमें सात अंश अग्नि के हैं, अग्नि जन्य बोला करते है। और धरती, खनिज, बनस्पति, और प्राणी, को जिनमें अधिक अंश पृथिवी का है, पार्थिव (पृथिवी तत्त्व का) बोला करते है। और नदी, दूध, मधु और पारा आदि पदार्थों को, जिन में जल तत्त्व बहुत है, द्रव्य या जल तत्त्व का कहा करते हैं।

(२४१) ऐ श्वेतकेतु ! यदि सूर्य, चन्द्र, बिजली में से, जो अग्नि तत्त्व के है, अग्नि, जल, पृथिवी को निकाल दिया जावे, तो इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त इन की कुछ असलियत नहीं रहती, वरन् मिथ्या मात्र है। और वैसे ही यदि भूमि, खनिज, बनस्पति और प्राणी में से, जो पृथ्वी तत्त्व उत्पत्ति है, तीनों तत्त्व पृथक-पृथक कर दिये जायँ, तो इन की असलियत भी तुच्छ है। और वैसे ही नदी, दूध, और छॉछ इत्यादि से भी, जो द्रव्य पदार्थ है, तीनों तत्त्व निकाल लिये जावें, तो असत वा मिथ्या मात्र सिद्ध होते है। इसी कारण बुद्धिमान् लोग तत्त्वों को ही सत् जानते है। और अग्नि तत्त्व के सूर्य, चन्द्र आदि ; पृथिवी तत्त्व के भूमि, खनिज आदि ; और द्रव्य (जल- तत्त्व के) नदी आदि ; यह सब असत् या सत्वत् हैं, जिस प्रकार असत् मृगतृष्णा का जल सत्वत् होता है। और इसी असत् या सत्वत् को सस्कृत में मिथ्या बोला करते हैं।

(२४२) जिस प्रकार साधारण विद्वानों के निकट यह प्रत्यक्ष संसार देखने मात्र को है, वास्तविक नहीं, वरन् सत् या वास्तविक वस्तु तत्त्व हैं ; उसी तरह उच्च कोटि के विद्वानों के निकट तत्त्व भी देखने मात्र के ही हैं, वास्तविक नहीं, क्योंकि वह

भी पारस्परिको परिवर्तित होते रहने के कारण कार्य ही हैं, और उपादान-कारण उनका एक परमात्मा ही सत या तत्त्व वस्तु है। इससे सिद्ध हुआ कि जो कुछ यह चर-अचर दिखाई देता है मृगतृष्णा के समान देखने मात्र या मिथ्या ही दिखाई देता है, सत् वही उपादान कारण वा अकेला परमात्मा है। और इस हेतु कि भासमान् पदार्थ ठीक असली वस्तु के ही अन्य रूप होते हैं, इसलिये यह सब परमात्मा ही हैं, अन्य नहीं।

(२४३) जब मालूम हुआ कि परमात्मदेव के सिवा और कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, वरन् वही प्रत्येक विभूति और महिमा में दिखाई देता है, और विभूति व महिमा (तत्त्व वस्तु) से इतर नहीं होती, इसी कारण यही शास्त्रकारों के निकट निश्चित हुआ है कि जो व्यक्ति इस परमात्मा को जान लेता है, वही वास्तव में सर्वज्ञ है, और जो इस परमात्मा को नहीं जानता बल्कि एक-एक पदार्थ की असलियत को पृथक-पृथक जाँच करता कुछ का कुछ मान लेता है, वह भ्रान्त या विक्षिप्त है, पण्डित या ब्रह्मज्ञानी नहीं।

(२४४) ऐ श्वेतकेतु! प्राचीन काल के आरम्भ में ब्राह्मण इस सत् को जानकर महान् आनन्द को प्राप्त हुए हैं, और अपने अनुभव और साक्षात्कार के बाद यह निश्चित कर चुके हैं कि जो व्यक्ति उपादान को सत् जानकर और कार्य को मिथ्या जानकर ठीक कारण ही उसे जानता है, वही वास्तव में सर्वज्ञ है; और भविष्य में भी इसी तरह कारण को सत् जानकर कार्य को मिथ्या और ठीक कारण-रूप ही जान लेगा, वही सर्वज्ञ होगा। और जो व्यक्ति इस शैली से रहित ऐसा दावा करता है कि मैं आँख बन्द करके कलकत्ता या दक्खिन में जो हो रहा है, वही जानता हूँ, पर इस परमात्मा

को नहीं जानता, वह सर्वज्ञ नहीं वरन् अल्पज्ञ है, क्योंकि वह उतना ही, जो कलकत्ते में ओट में हो रहा है, खबर दे सकता है, सब से परिचित नहीं। और यह विशेषता जो उसके अन्तःकरण में है वह उसी तरह की है जैसा कि गन्ध सूँघने वाले कुत्ते में एक विचित्र सूँघने की शक्ति पाई जाती है जिसके द्वारा वह अदृष्ट शिकार को पहचान लेता है, अतः उस योगी और इस गन्धवाले कुत्ते में समान अवस्था वा श्रेणी ही जान लेना।

(२४५) ऐ श्वेतकेतु! यह कथन पूर्व ऋषियों का सत्य है, असत्य नहीं। क्योंकि वह लोग इन तीनों तत्त्वों को, जो संसार का उपादान कारण है, भली भाँति जानते थे, और फिर इन तीन तत्त्वों का भी उपदान कारण जो एक परमात्मदेव है उसका भी उन्हों ने भली भाँति साक्षात्कार किया था। ऐसे विद्वान् ज्ञानी लोगों को सारे संसार का साक्षात्कार होना कुछ भी कठिन नहीं।

(प्रयोजन)—इस कथन का परिणाम यह निकलता है कि कुछ मूर्ख इस विचार में है, कि ज्ञान वही होता है कि जो अदृश्य को मालूम कर ले। यह विचार उसका खयाली पुलाव वा मनमोदक मात्र है, क्योंकि योग की विधि से जो कुछ शक्ति इस प्रकार की हो जाती है, वह वास्तव में ज्ञान या साक्षात्कार नहीं, वरन् वह एक आन्तरिक अनुभूति का ज्ञान वा बोध है, जो ईश्वरीय विधान के विरुद्ध है, क्योकि उसमें सांसारिक झगड़ा होता है न कि सांसारिक शान्ति। जिन लोगों पर अष्टाङ्ग-योग साधन करने के कारण यह आन्तरिक अनुभूति खुल गई है, वह वास्तव में लोगों के गुप्त भेद को जान लेने की शक्ति रखने के कारण सृष्टि की अधोगती और सत्यानाशी का कारण हुए हैं, और इसके अतिरिक्त फिर भी वह प्रत्येक वस्तु को

देख नहीं सकते । इसलिये तत्त्वविदों के निकट साक्षात्कार वही है कि जो सत् वस्तु (तत्त्व) का साक्षात्कार हो जैसे कि ऋषि जी ने अपने अनुभव के दावे से सिद्ध कर दिखाया है ।

(प्रयोजन) यहाँ तक ऋषिजी ने इस प्रत्यक्ष संसार (जाग्रत-जगत) को ठीक तीन तत्त्व रूप ही सिद्ध किया है । अब भीतर के या मानसिक संसार को भी इन तीनों तत्त्वों का कार्य सिद्ध करते हैं, जिससे प्रमाणित हो कि प्रत्यक्ष वा मानसिक, अथवा जाग्रत या स्वप्नसंसार सब ही तत्त्वों से उत्पन्न हुए हैं ।

(२४६) ऐ श्वेतकेतु ! जितने संसार में प्राणी हैं, वह अन्न खाते और पानी पीते हैं । और यह स्पष्ट है कि यह अन्न और पानी इन्हीं तीन तत्त्वों से मिश्रित हैं जिनका ऊपर वर्णन हुआ है । अब जान लो कि जब अन्न जीवधारी खाते हैं और वह उनके पाकस्थल में जाता है, तो उसका पकना पहले पाकस्थल में और फिर यकृत में और फिर नस नाड़ियों में और फिर अंगों में होता है जिसका सविस्तर वर्णन चिकित्सा शास्त्र में मिलता है । यद्यपि इस बात की जांच कि वह चार प्रकार का पकना किस तरह होता है और भीतर में इससे क्या उत्पन्न होता है, वैद्यकशास्त्र से सम्बन्धित है, तो भी जितना यहाँ पता लगाने योग्य है, वह यह है कि अन्न से जो तीनों तत्त्वों का सम्मिश्रित ग्रास है, तीन तत्त्व जठराग्नि के कारण पृथक हो जाते हैं, वरन् प्रत्येक तत्त्व के स्थूल व सूक्ष्मतम तीन टुकड़े निकलते हैं ।

(२४७) आहार के अग्नि अंश में से जो पहिले तीन भाग निकलते हैं, उन में से जो सूक्ष्मतर भाग अग्नि का है वह बोलने की शक्ति में बदल जाता है जिसको संस्कृत में वाक् इन्द्रिय बोलते हैं, और जो सूक्ष्म भाग अग्नि का है वह पाचन शक्ति में बदल जाता है जिस के कारण शरीर के भीतर पाचन होता

है और शारीरिक स्थिति बनी रहती है, और इस पाचन शक्ति को संस्कृत में "जठराग्नि" कहते हैं। और स्थूल भाग अग्नि का प्रचण्डग्नि जो देह को तपाती है और देह के रोमों के रास्ते से निकल जाती है। इसी कारण से जब कभी रोमों का मुँह बंद हो जाता है तो रोग उत्पन्न हो जाता है, और चिकित्सक उष्णता के प्रयोग से रोमों को चौड़ा करता या फैला देता है और स्वस्थता हो जाती है।

(२४८) भूमि-तत्त्व का जो सूक्ष्मतर भाग है, उससे परिवर्तन-विधि द्वारा अन्तःकरण उत्पन्न होता है। और पृथिवी-तत्त्व के सूक्ष्म भाग से वीर्य या मांस उत्पन्न होता है। और भूमि-तत्त्व के स्थूल भाग से विष्ठा होता है जो आँतों के द्वारा बाहर निकल जाता है।

(२४६) जल-तत्त्व का जो सूक्ष्मतर अन्श है, उससे भाप की विधि-अनुसार आध्यामिक, आधिभौतिक और आधिदैविक प्राण उत्पन्न होते हैं, जिसको संस्कृत में "प्राण" बोलते है। और जल-तत्त्व के सूक्ष्म अंश से वात, पित्त, कफ उत्पन्न होते है, जो वह भी भौतिक अंश से है। और जल-तत्त्व का स्थूल भाग वास्तव में फोक है जो मूत्राशय के मार्ग से बह कर निकल जाता है और इसी को सामान्य लोग मूत्र बोलते हैं।

(२५०) हे प्रिय ! जो आप जी ने यह दावा किया कि वाक्-इन्द्रिय अग्नि के सूक्ष्मतर अश से उत्पन्न होती है, और प्राण जल-तत्त्व के सूक्ष्मतर अश से उत्पन्न होते हैं, और अन्तःकरण पृथिवी के सूक्ष्मतर अंश से उत्पन्न होता है, तो श्वेतकेतु चौंक उठा और उसने आपत्ति की—

(२५१) हे भगवन् ! अनुभव से सिद्ध होता है कि जो कार्य होता है, वह अपने कारण की समानता पर ही होता है,—

यही संसार में हम देखते हैं, जैसे मिट्टी स्थूल है उससे जो क़ूज़ा या घट बनता है, मिट्टी की तरह स्थूल ही होता है। और अन्न जो मिश्रित तत्त्वों का ग्रास है, अत्यन्त स्थूल है, उसके गलने वा पकने से वाक्-इन्द्रिय और प्राण तथा अन्तःकरण का उत्पन्न होना यह बुद्धि-संगत नहीं।

(२५२) ऐ पुत्र ! स्थूल से सूक्ष्म की उत्पत्ति भी हम संसार में देखते हैं। देखो जब दही बिलोया जाता है, तो वह स्थूल दही इस प्रक्रिया से तीन भाग हो जाता है, अर्थात् छांछ, फेन, मक्खन। और स्पष्ट है कि अकेला वही मिश्रित (दही) अत्यन्त स्थूल पदार्थ होता है, तो भी जब वह ख़ूब बिलोया जाता है, तो वह स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर अंशों में विभक्त हो जाता है, वैसे ही अन्न भी इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के रूप में बदल जाता है।

(२५३) ऐ श्वेतकेतु ! जिस प्रकार दही बिलोया जाता है और उसका सूक्ष्मतर अन्श, मक्खन सबसे ऊपर तैर आता है, उसी तरह अन्न भी जब उदर (आमाशय) में जठराग्नि के कारण पकता और अङ्गीभूत होता है, तो उससे सूक्ष्मतर अंश निकलते ही इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के रूप में दिव्य लोक उत्पन्न होते हैं।

(२५४) हे भगवन् ! जो आपने कहा कि अग्नि के सूक्ष्मतर अंश से वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न होती है; यह तो किसी कारण से मुझको भी सिद्ध होता है, क्योंकि जब कफ या मास्तिष्किक मल गले की रग पर गिरता है, तो बोलने में रुकाव (अटकाव) उत्पन्न होता है और जब चिकित्सकगण कफ या मास्तिष्किक मल को दूर करते हैं, तो निस्संदेह बोलने में निरोग अथवा स्वास्थ्य पूर्वक बोलना होता है और स्पष्ट

है कि तरलता के कारण अग्नि अवश्य हानि पाती है. इस हेतु कि कफ की तरलता या मास्तिष्कक मल की तरलता से वाक् इंद्रिय दूपित हो जाती है, इसलिये वाक् इन्द्रिय अवश्य अग्नि-तत्त्व-जन्य पदार्थ से है, किन्तु अन्य इन्द्रिय और अतः-करण किसी कारण से भी मुझ पर वास्तव में जल और मृत्तिका से सिद्ध नहीं होते।

(२५५) ऋषि जी ने कहा—ऐ श्वेतकेतु! पॅच ज्ञानेन्द्रिय, पॅच कर्मेन्द्रिय, पँच भूत और एक मन और एक अन्तःकरण यह १७ का समुदाय चेतन से सम्मिलित हुआ मनुष्य कहलाता है। और चॉद ही जिसका देवता है, ऐसा जो अन्तः-करण है, वही धनी है जिसमें ऐसा समस्त मानवी समुदाय भूतों से उत्पन्न होता है, जिसकी अधिक विवेचना चिकित्सा-शास्त्र में मिलती है। मैंने जो यहॉ संकेत किया है, वह रहस्य की भॉति उस महान् शास्त्र की सूचना दी है, जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन यहॉ कठिन है।

(२५६) यद्यपि इस विपय की विस्तार पूर्वक व्याख्या और विवेचना तर्क-योग्य है, तो भी बीच में अति संक्षेप से यहां इतना मै वर्णन करता हूॅ कि यदि मनुष्य भोजन न करे, तो प्रति दिन एक कला (अंग) इन सत्रह कलाओं में से नष्ट हो जाती है जिससे अन्त में अठारह दिन मे भूखा मनुष्य मर जाता है, सत्रहवें दिन तक कुछ न कुछ अश जीवन (प्राण) का शेप रहता है। यदि १६ दिन के व्रत क पश्चात् फिर आहार देवें, तो सौलहवे दिन में फिर ये मृतप्राय कलाएॅ जीवित हो जाती है। इस लिये शास्त्रकारों ने पुरुप के षोढश कला अर्थात् सोलह अंग जीवन के नियत किए है।

(२५७) ऐ श्वेतकेतु! यह नियम जो मैंने वर्णन किया.

सम प्रकृति वा निरोगी मनुष्य का वर्णन किया है, जो व्यक्ति दुर्बल वा शक्ति-जीर्ण है, वह इस से कम दिनों में ही भूखा मर जाता है। और जो बलिष्ठ प्रकृति तथा शरीर से बलवान है, वह अधिक समय तक भूखा रहने से भी जीवित रह सकता है। और यह प्राण बिना जल के रात दिन तक भी कठिनता से रह सकता है। और चूँकि तुम स्वयम् वैद्य हो और तुम्हारी शारीरिक इन्द्रियाँ सम प्रकृति वा निरोग है, यदि तुम को परीक्षा करना है, तो तुम पानी तो प्रति दिन इच्छानुसार पियो किन्तु भोजन पन्द्रह दिन तक न करो, इस में सोलहवें दिन तक जीवन या प्राण तो तुम्हारे रह जाँयगे, शेष इन्द्रियाँ और सब कलाएँ दूर हो जायँगी। उस समय तुम पर भली भाँति प्रमाणित हो जायगा कि यह सब शरीर और शारीरिकता तथा जाग्रत-स्वप्न सब के सब तत्त्वों से ही उत्पन्न हैं।

(२५८) ऐ प्यारो! श्वेतकेतु ने पिता के आदेशानुसार परीक्षा के लिए पन्द्रह दिन तक व्रत धारण कर लिया, अर्थात् पानी तो पिया किन्तु अन्न नहीं खाया, सोलहवें दिन में मूर्छा सी अवस्था में होगई, किन्तु प्रण का रंच (कुछ अंश) शेष था, उस समय अरुणी ऋषि ने उसके अति निकट खड़े होकर पुकार-पुकार प्रश्न किया कि ऐ पुत्र! जो आपने ऋक्, यजु, साम, अथर्व वेद गुरु से सीखे हैं, उनका उच्चारण करो और मुझको बतलाओ। श्वेतकेतु पिता के शब्द को कुछ न कुछ सुनता तो था, किन्तु वह वेदों का उच्चारण और वर्णन नहीं कर सकता था। इसी तरह कई बार आग्रह के साथ पिता ने प्रश्न किया, पर वह कुछ उत्तर नहीं देता था।

(२५९) फिर ऋषि जी ने आज्ञा दी कि थोड़ा-थोड़ा और हलका भोजन प्रति दिन उस को दो। अतः उस समय के

चिकित्सा-नियम के अनुसार प्रति दिन हल्का-हल्का भोजन जो उचित था, सब दिया गया। पन्द्रह दिन में फिर वह स्वस्थ हो गया। उस समय पिता के पास गया और निवेदन किया कि हे पिता जी! मुझको परीक्षा से प्रमाणित हो गया कि जो इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप, अंग, दिव्य, सृष्टि वा स्वप्नावस्था की वस्तुएँ मुझ में थी, आहार-त्याग से नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी और फिर भोजन मिलने से जीवित व स्वस्थ हो गई है, क्योंकि प्राप्त शिक्षा का अर्थ और तात्पर्य उस समय मैं न उच्चारण कर सकता था और न वर्णन कर सकता था। और अब मैं फिर उनका उच्चारण और वर्णन कर सकता हूँ। इस से सिद्ध है कि मनुष्य शरीर जो जाग्रत अवस्था का अंग है और कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण जो स्वप्नावस्था का अंग है, यह सब के सब तत्त्वों वा अन्न से उत्पन्न हुए है।

(२६०) ऋषिजीने कहा—ऐ पुत्र! जैसे महान प्रज्वलित अग्नि-कुण्ड बड़ी-बड़ी लकड़ियों को भी जला देता है, वैसे ही प्राकृति अंग भी समप्रकृति व स्वस्थावस्था में सब प्राकृतिक कर्मों को भली भाँति करते हैं। और जिस प्रकार लकड़ियों के निकाल लेने से जब अग्नि कुण्ड बुझाया जाता है और तनिकसा अंगारा उसमें शेष रख लिया जाता है, तो फिर वह अंगारा बड़ी-बड़ी लकड़ियों को नहीं जलाता; इस प्रकार जब आहार त्याग से प्राकृतिक अंग जो वास्तव में अन्तःकरण के प्रकाश वा अंश हैं, दूर हो जाते है, केवल रंचक प्राण तनिक सा रह जाता है, कोई प्राकृति कर्म ठीक तौर पर नहीं होता।

(२६१) फिर क्योंकि जैसा तनिक से अंगारे में नर्म २ घास डाल कर उसको फिर फूँक कर प्रज्वलित किया जाता है

और उचित तथा नर्म टुकड़े लकड़ी के डाल कर उसको खूब दग्ध किया जाता है, वैसाही उस रंचक प्राण में जब नर्म-नर्म और थोड़ा-थोड़ा अन्न दिया जाता है, तो फिर यह सब कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न वा प्रज्वलित हो जाते हैं और प्राकृतिक कर्म स्वस्थता के साथ होने लग जाते है।

(२६२) ऐ श्वेतकेतु ! जिस प्रकार अग्नि-कुण्ड की अग्नि का कारण लकड़ियाँ या जलने जलाने वाले पदार्थ ही तत्त्ववित् निश्चय करते हैं, इसी तरह अन्तःकरण और इन्द्रियों का कारण भी वास्तव में तत्त्व व भौतिक पदार्थ ही हैं, गर्भाशय में वीर्य का परिपाक होकर सत्रह दिन में एक कला के बाद दूसरी कला जीवन अवस्था में हो जाती है, और फिर रक्त,माता के श्राव से आहार करता हुआ वह नौ मास तक सम्पूर्ण अंगों और इन्द्रियों के साथ गर्भ से निकल आता है, और फिर माता के दुग्ध और अन्नों से परिपालित होता उक्त प्रत्यंगों की शक्ति पाता युवा हो जाता है। फिर इससे ज्ञात हुआ कि सब मानुषी अंग चाहे जाग्रतावस्था के हों चाहे स्वप्नावस्था के हों सब के सब तत्त्वों की सूक्ष्मता और स्थूलता से ही उत्पन्न हुए हैं।

(२६३) ऐ श्वेतकेतु ! जब तुम पर अनुभव और युक्तियों से भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य की असलियत वा बनावट में जाग्रत और स्वप्न की अवस्थाएँ तत्त्वों से ही उत्पन्न है, सनातन नहीं ; इसी तरह स्थालीपुलाकन्यायेन जान लेना चाहिए कि संसार में जाग्रत्-स्वप्न व लोक-परलोक व मनुष्य व देवता सब के सब भूतों से ही उत्पन्न हुए हैं, सनातन नहीं है; और चूँकि भूत भी परिवर्तनशील और विकारवान् हैं, इसलिये वे भी उत्पन्न और कार्य रूप हैं, उनका उपादान कारण एकमेवाद्वितीयम ब्रह्म है, जिसे हम लोग परमात्मा और सूफ़ी

लोग ज़ाते-मुतलक कहते हैं, वही सत और सनातन है, और उसी अद्वैतस्वरूप में पहले भूत और फिर भौतिक पदार्थ क्या पारलौकिक क्या लौकिक, क्या जाग्रत क्या स्वप्न, सब क सब उत्पन्न हुए कार्य है, और उससे तद्रूप है, भिन्न नहीं।

(प्रयोजन) यहाँ तक ऋषिजी ने लौकिक वा आधि-भौतिक विधान से समस्त संसार का एक मात्र उपादान कारण अकेला परमात्मा वर्णन किया, अब उसी परमात्मा को आध्यात्मिक नियम से एक मात्र उपादान वर्णन करते हैं।

(प्रयोजन) ज्ञानियों के निकट परमात्मा का दर्शन दो प्रकार का है, एक लौकिक वा आधिभौतिक दर्शन है और दूसरा आध्यात्मिक दर्शन है। संसार में परमात्मा का दर्शन जैसा कि ऋषिजी ने ऊपर कराया है, सावरण दर्शन कहलाता है, और अध्यात्म व अन्तःकरणों में जो निज स्वरूप का दर्शन है, वह वास्तव में निरावरण दर्शन है। इसलिये अब ऋषिजी परमात्मा का सावरण दर्शन कराकर निरावरण दर्शन अर्थात् निज स्वरूप का साक्षात्कार कराते हैं।

(प्रयोजन) अध्यात्म-दर्शन में परमात्मा की समीपता व अभेदता, जो मनुष्य से है, सिद्ध की जाती है। और परमात्मा की यह समीपता व अभेदता ब्रह्मज्ञानियों ने तीन प्रकार की विधान की है। पहिली प्रकार की समीपता व अभेदता प्रति-बिम्बिक है, दूसरी प्रकार की समीपता व अभेदता परम उत्कृष्ट है, और तीसरी प्रकार की समीपता व अभेदता निजी है। प्रति-बिम्ब को बिम्ब से जो समीपता व तुलना है वह प्रतिबिम्बिक समीपता व अभेदता कहलाती है, और जो तुलना व समी-पता आधार को आधेय से है वह परम उत्कृष्ट समीपता कहलाती

है। और जो समीपता व अभेदता आवरण तथा उपाधि के दूर होने के बाद होती है, वह निजी वा आत्मिक समीपता व अभेदता होती है। जैसे कूज़ा और कमरे की उपाधि से आकाश में जो देखने मात्र भेद होता है और उस कूज़ा व कमरे की उपाधि के दूर होने के बाद आकाश में जो एकता वा अभेदता सिद्ध होती है वह निजी वा आत्मिक समीपता और अभेदता कहलाती है। अब पहिले प्रतिबिम्बिक समीपता को सिद्ध किया जाता है।

(२६४) ऐ श्वेतकेतु ! यह उपादान कारण समस्त संसार का परमात्मा है, वास्तव में प्रत्यक्ष है और प्रत्येक रूप में उसी तरह प्रकाशमान है जिस प्रकार कार्य में उपादानकारण प्रकाशमान होता है। अब तुम प्रत्येक वस्तु को देखते हुए क्या उसका प्रकाश प्रत्येक वस्तु में नहीं देखते हो ? वरन् देखते हो, किन्तु इस दर्शन में अभी तक तुम को वह आनन्द, जो ब्रह्मज्ञानियों को होता है, नहीं हुआ क्योंकि अभी तक उसका साक्षात्कार वस्तु परिच्छेद के रूप में हुआ है।

(२६५) इस दर्शन का उदाहरण ऐसा है जैसे किसी का प्रेमपात्र अपना मुख चादर में ढाँप कर सम्मुख आया हो, और साथ ही प्रेमी को इसके अतिरिक्त बिच्छू और पिस्सू काटते हों, तो स्पष्ट है कि ऐसी दशा में ऐसे प्रेमपात्र के दर्शन से प्रेमी को कुछ भी आनन्द नहीं होता।

(२६६) चूँकि परमात्मदेव उपर्युक्त अन्वेषण से प्रत्येक रूप के वेष वा उपाधि में छुपा हुआ तुम्हारे सम्मुख प्रकाशमान है, और रूपों का नानत्व बिच्छू और पिस्सू के समान है, क्योंकि ज्ञानियों के निकट नानत्व ही वास्तव में दुख-शोक का कारण है, एकता वास्तव में सुख और आनन्द है। इस नानत्व

में एकत्व को देखते हुए भी ज्ञानवान् पूर्णानन्द नहीं पाता, वरन पूर्णानन्द तभी होता है जब नाना रूपता नष्ट होकर निरावरण साक्षात्कार परमात्मा का करता है। अतः अभी तक हमने तुमको वह निरावरण दर्शन नहीं कराया।

(२६७) श्वेतकेतु ने निवेदन किया—पूज्य पिताजी ! मैं आपका प्रिय पुत्र और शिष्य हूँ, कृपा कर मुझको परमात्मा का निरावरण साक्षात्कार भी कराइए, जिससे मैं उस अविनाशी निजानन्द को प्राप्त करूँ। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। और विनती करता हूँ। मेरी इस दीन विनय पर ध्यान दीजिये।

(२६८) ऋषिजी ने कहा ऐ श्वेतकेतु ! अभी तक तुमको यह सिद्ध हुआ है कि वह परमात्मदेव उपादान कारण या भूतों का मूल कारण है। और इस हेतु कि वह भूतों तथा भौतिक पदार्थों के अज्ञानावरण में छिपा हुआ है तत्त्व वेताओं के निकट तमोमय वा जड़ दिखाई देता है; इसी कारण तत्त्ववेता-पुरुष उस मूल कारण को तमोमय, जड़स्वरूप वा अज्ञानात्मा कहते है, किन्तु वह तमोमय वा अन्धकार रूप नहीं वरन ठीक ज्योति स्वरूप है।

(२६९) श्रुतिभगवती उसको तमोमय वा जड़ नहीं कहती, वरन उसमें जड़ता जो रूपों के वेष वा आवरण में सिद्ध होती है वह उसी तरह आरोपित और दीन है जिस तरह वस्तुओं की आकृतियाँ उसमें आरोपित और दीन हैं। अपने स्वरूप में तो वह सत् स्वरूप और चित्स्वरूप है। इसका प्रमाण जिस प्रकार श्रुति द्वारा हम ज्ञानी पुरुषों को हुआ है वह निधान अब हम वर्णन करते है।

(२७०) हमने ऊपर मनुष्य के भीतर अन्तःकरण की असलियत वा बनावट को बतलाया है कि वह भी एक विचित्र वस्तु

तत्त्वों के सूक्ष्मांश से वीर्य और अन्न द्वारा उत्पन्न हुई है, और जिस प्रकार समस्त भूतों और भौतिक पदार्थों का उपादान कारण और अधिष्ठान वही एक परमात्मा है, उसी तरह इस मनुष्य के अन्तःकरण का भी वास्तव में वही अकेला परमात्मा उपादान और अधिष्ठान है। और जिस तरह वह समस्त प्रत्यक्ष पदार्थों में उपादान कारण की भाँति प्रविष्ट है, उसी तरह वह मनुष्य के अन्तःकरण में भी कारण और कार्य की अवस्था से प्रविष्ट है। किन्तु यह अन्तःकरण समस्त दृश्य पदार्थों की अपेक्षा स्वच्छ और निर्मल दर्पणवत् है और उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने योग्य भी है कि जिसमें यह (अन्तःकरण) स्वयं कार्य रूप से स्थित है। इस हेतु यह अन्तःकरण अन्य दृश्य पदार्थों की अपेक्षा निर्मल और प्रत्येक वस्तु तथा परमात्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने योग्य है, उसमें अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त परमात्मा का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसी कारण वह ज्योतियों की ज्योति हो रहा है। और इस अन्तःकरण रूपी दर्पण में परमात्मा का स्पष्टीकरण तथा प्रतिबिम्ब उसी प्रकार है जिस प्रकार कि एक स्फटिक मणि का टुकड़ा एक गुलाब के फूल पर धरा हो और वह लाल फूल उस स्फटिक मणि के टुकड़े में प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्ष दिखलाई देता हो।

(२७१) जब मालूम हुआ कि अन्तःकरण रूपी दर्पण में वह परमात्मा प्रतिबिम्ब रूप प्रकट हुआ है तो यहाँ उसका साक्षात्कार निरावरण होता है, क्योंकि अन्तःकरण रूपी दर्पण में वह किसी अज्ञान रूपी आकृति की उपाधि के बिना अपने शुद्ध स्वरूप में जो ज्ञान स्वरूप है प्रकट हुआ है। इसी कारण इस पुनः प्रवेश को श्रुति भगवती ने जीव रूप से वर्णन किया है।

(२७२) यद्यपि वह चित् स्वरूप परमात्मा बुद्धिमानों को

अन्तःकरण के गुण सा (जड़) सिद्ध हुआ है, किन्तु वह वास्तव में अन्तःकरण का गुण या विशेषण अथवा आधेय नहीं, क्योंकि वह वास्तव में अन्तःकरण का अधिष्ठान और उपादान है, और अधिष्ठान अपने कार्य का गुण वा आधेय नहीं होता। बुद्धिमानों को यह भ्रम उसी प्रकार का हुआ है, जैसा कि स्फटिकमणि और गुलाब पुष्प के उदाहरण में किसी को भ्रम हो कि यह लाली स्फटिक मणि का गुण है, यद्यपि वह लाली स्फटिकमणि का गुण नहीं, प्रत्युत वह गुलाब पुष्प का निजी गुण है, जो स्फटिक टुकड़े का आधार है। इसी तरह अन्तःकरण में ज्ञान (चित्) का प्रकाश सिद्ध और स्पष्ट है, वह वास्तव में अन्तःकरण का गुण नहीं प्रत्युत उस परमात्मा का ही निजी गुण है जो कि अन्तःकरण का अधिष्ठान और उपादान कारण है। और वह उसमें उसी प्रकार से प्रतिबिम्बित और प्रतिभात हो रहा है जिस प्रकार स्फटिक-खंड में लाल पुष्प प्रतिबिम्बित और प्रतिभात है।

(२७३) ऐ श्वेतकेतु ! पदार्थों के रूपों में जो पदार्थों का उपादान कारण अर्थात् अद्वैत तत्त्व तुमको बतलाया था वह अज्ञानावरण रूप पदार्थों की आकृति में तमोमयी जड़ता के कारण जड़ सा दिखाई देता है, और यहाँ अन्तःकरण रूपी दर्पण में वही अद्वैत ब्रह्म ठीक चित् स्वरूप और ज्योतियों की ज्योति दिखाई देता है। अतः तमोमयी जड़ता और उसमें निजी विशेषण नहीं अपितु आधेय रूप, अधीन और आरोपित है, यदि वह जड़ता उसकी निजी होती तो अन्तःकरण रूपी दर्पण में भी वह जड़ ही प्रतिबिम्बित होता, क्योंकि हबशी के बच्चे का रूप दर्पण में कुछ लाल नहीं हो जाता अपितु काला ही दिखाई देता है। और इस हेतु कि वह जगत का उपादान कारण तथा अद्वैत स्वरूप परमात्मदेव तमरूप जड़ता

से रहित वरन् चित् स्वरूप और ज्योतियों की ज्योति है, अतएव अन्तःकरण रूप दर्पण में ज्योतियों की ज्योति और चित् स्वरूप दिखाई देता है। अतः तत्ववेत्ताओं का यह कथन, कि भूतों का उपादान कारण जड़स्वरूप है, मिथ्या है, प्रत्युत भूतों का मूल कारण चित् स्वरूप, प्रकाश स्वरूप और सत् स्वरूप है, जैसा कि उसका साक्षात्कार अन्तःकरण रूपी दर्पण में होता है।

(२७४) प्रत्यक्ष भूतों और भौतिक पदार्थों में जो वह जड़ सा दिखाई देता है, उसी प्रकार का रहस्य है जैसा कि रूमी (सुन्दर) बच्चा काली चादर ओढ़कर दिखाई दे। इससे स्पष्ट है कि इस श्याम आवरण के कारण रूमी बच्चा हबशी बच्चे की तरह श्याम वर्ण नहीं हो जाता। और यह बात उसी पर स्पष्ट होती है कि जिसने रूमी बच्चे को आवारण रहित अरुण वर्ण (लाल मुख) देखा हो, किन्तु जिसने उसको निरावरण देखा ही नहीं वह निस्संदेह उसको हबशी बच्चा समझ लेगा। बेचारा तर्क-शास्त्री या विज्ञानी जो निरावरण सक्षात्कार से रहित है, सदैव उसको श्मामवरण, जड़ रूप तमोमय, भौतिक रूपों में देखता है, और इस प्रकार परम तत्व (परमात्मा) को जड़ रूप होने का भ्रम करता है।

(२७५) हम ज्ञानी पुरुष, जो उसको अन्तःकरण रूपी दर्पण में बिना तमरूप आवरण के निरावरण दशा में अनुभव करते हैं, उसको चित् स्वरूप प्रकाश स्वरूप और सत् स्वरूप जानते है। और यही वास्तव में परमात्मा है। इससे आगे दूसरी कोई वस्तु नहीं।

(२७६) ऐ श्वेतकेतु! तुम अपने अन्तःकरण में उसको देखो कि वह चित् के रूप में प्रकट हुआ है, अज्ञान रूप तम और

भौतिक रूप से वह नितान्त रहित है। और यही चित् स्वरूप बाहर के तमोमय जड़रूप में रूपवान् हुआ सत् रूप दिखाई देता है। अतः चित् और सत् दोनों वास्तव में एक वस्तु है। जिन तत्त्व ज्ञानी पुरुषों ने सत् और चित् में अन्तर किया है उनको चित् और सत् की असलियत से वास्तव में परिचय नहीं, वरन वह भूल में हैं, और उनकी वह भूल अज्ञान और रूपों के आवरण के कारण हुई है, जैसा कि सूर्य ग्रहण के समय चंद्रमा के आवरण के कारण सूर्य का कुछ भाग सर्व साधारण को काला दिखाई देता है जिससे सूर्य बिम्ब तमोमय और प्रकाशमय दिखाई देता है।

(२७७) ऐ श्वेतकेतु ! वह चित् स्वरूप है और सत् में चित् है, यह ठीक है। जहाँ श्रुतियों में सत् पढ़ा है वहाँ चित् ही जानना, और जहाँ श्रुतियों में पहले चित् पढ़ा है, वहाँ सत् ही जानना, वरन् सत् और चित् के नाम और शब्द दोनों युक्ति वा दलील के लिए स्पष्ट किए गये हैं, वास्तव में जो तुमको अन्तःकरण रूपी दर्पण में वस्तुमात्र दिखाई देती है, वही वस्तु इन शब्दों के लक्ष्यार्थ है, और यही वस्तु सत् या परमात्मा है, किन्तु उसमें अविद्यावरण के कारण जिसको असत् की भ्रान्ति होती है, उसके भ्रम निवारण के लिये इसी वस्तु को हम सत् नाम से बोला करते है। और जिसको उसमें जड़ता वा अचेतनता का भ्रम होता है उसके भ्रम निवारणार्थ हम उसे चित् नाम से बोला करते हैं। और जिसको उसी वस्तु में अपने आप से भिन्नता का भ्रम होता है, उसके भ्रम-निवारण के लिये हम इसी वस्तु को आत्मा नाम से बोला करते है, अतः सत्, चित्, आनन्द, आत्मा यह शब्द तो भिन्न-भिन्न हैं, अर्थ एक यही वस्तु है जो तुमको अन्तःकरण रूपी दर्पण में दिखाई देती है।

(२७८) ऐ श्वेतकेतु! वास्तव में यह अन्तःकरण समस्त सृष्टि का अन्तिम फल है। जिस तरह वृक्ष, जो बीज से निकलता है, तना, पत्ती, काँटा, फूल और शाखें इत्यादि विविध रूपों में उत्पन्न होता है और सब के बाद, जो फल निकलता है उसमें वही बीज, जो समस्त वृक्ष का कारण है, फिर सिर निकालता है; इसी तरह परमात्म देव रूपी अकेले बीज से यह संसार-रूपी वृक्ष निकला है, और भूत व भौतिक पदार्थ अथवा लौकिक पारलौकिक संसार (तना शाखों के रूप में) उत्पन्न होता है. मानुषी देह और आकृति में अन्तःकरण इस संसार रूपी वृक्ष का फल स्वरूप हुआ है, जिस में वही बीज रूप परमात्मा फिर अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ है।

(२७९) ऐ श्वेतकेतु! यह अन्तःकरण वस विचित्र वस्तु उत्पन्न हुआ है, यद्यपि वह पूर्वोक्त कथन से सिद्ध होता है कि यह समस्त उत्पत्ति का अन्तिम फल या सब से पीछे की रचना है किन्तु विचार कर देखिए तो यही अन्तःकरण समस्त संसार का निकास या उपादान है, और भूत व भौतिक पदार्थ सब के सब इसी के विलास हैं, क्योंकि इस अन्तःकरण के हुए यह नानात्व विद्यमान होती है। यदि यह अन्तःकरण न होता, तो यह नानात्व अर्थात् भूत और भौतिक पदार्थ भी विद्यमान न होते। इस कारण यह अन्तःकरण ही वास्तव में संसार का आरम्भ और उपादान कारण है, इससे इतर दूसरा नहीं।

(२८०) ऐ श्वेतकेतु! जो वस्तु स्पष्ट या विद्यमान नहीं होती उसको तत्त्ववेत्ता लोग प्रत्यक्ष ही नहीं कहा करते, जैसे खयाल करो कि बहुत वस्तुएँ सागर में हैं जिनका पता तक नहीं, और उनको कोई भी प्रत्यक्ष नहीं कहता। जो वस्तु विद्यमान या व्यक्त होती है वही वास्तव में प्रत्यक्ष कहलाती है। इससे

सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षता की असलियत वास्तव में व्यक्त होना या विद्यमान होना है। और यह विद्यमान होना विना अन्तःकरण के असम्भव है, क्योंकि घनसुषुप्ति में यद्यपि वस्तुएँ होती हैं किन्तु, अन्तःकरण नहीं होता, इसी कारण वस्तुएँ सृष्ट नहीं होती, किन्तु जब जाग्रत-काल में अन्तःकरण इन्द्रियों के रूप में तरंगायित होता है, समस्त वस्तुएँ विद्यमान होती हैं, इससे सिद्ध होता है कि अन्तःकरण वास्तव में प्रत्यक्ष संसार का आरम्भ व उपादान कारण है, और यह विद्यमानता ही वास्तव में संसार है, विद्यमानता के अतिरिक्त प्रत्यक्ष पदार्थ कुछ असलियत नहीं रखते।

(२८१) असलियत की दृष्टि से यह सिद्ध हुआ है कि अन्तःकरण ही परमात्मदेव में तरंगायित होता प्रत्यक्ष पदार्थों के रूप में विद्यमान वा व्यक्तिमान होता है, और वही अद्वितीय स्वरूप परमात्मा उस अन्तःकरण में केन्द्रित हुआ अन्तःकरण के द्वारा उस विद्यमान वा व्यक्तिमान को देखता है, अतः संसार की असलियत परमात्म स्वरूप में अन्तःकरण के विचार से दृष्टिरेव सृष्टि है, वाह्य में सृष्टि नहीं। संस्कृत में इसको दृष्टि-सृष्टिवाद बोला करते हैं।

(२८२) ऐ श्वेतकेतु ! हम तुम पर भली-भाँति सिद्ध कर चुके हैं कि कार्य्य ही उपादानकारण होता है, और उपादान कारण अकेला सत् रूप परमात्मा है, उसमें जो यह चराचर जगत् प्रकट वा विद्यमान होता है, उससे कुछ अधिक वस्तु उसमें पैदा नहीं हो गई, प्रत्युत यह अन्तःकरण ही उस परमात्मा स्वरूप में नाम रूप की कल्पनाएँ करता है, और वही कल्पित रूप, शुद्ध परमात्मदेव में, संसार के रूप में विद्यमान होते हैं, और वह परमात्मदेव ही इस व्यक्त सृष्टि को देखता है।

(२८३) ऐ श्वेतकेतु ! यह रहस्य उसी प्रकार का है जैसा कि स्वप्नावस्था में स्वप्न-जगत दिखाई देता है। देखो स्वप्न में यह अन्तःकरण ही साक्षी आत्मा में नाना नामरूप कल्पना करता है। और इसी तरह वह अन्तःकरण संसार रूप दिखाई देता है जैसा कि अब भी अन्तःकरण संसार रूप होकर जाग्रत में दिखाई देता है अतः जिस प्रकार वह स्वप्न-संसार केवल काल्पनिक और मनोमात्र है, उसी तरह यह जाग्रत-संसार भी केवल काल्पनिक और मनोमात्र है।

(२८४) हे भगवन् ! यह जाग्रत-संसार स्वप्न-जगत की तरह काल्पनिक नहीं हो सकता, क्योंकि स्वप्न-जगत दृष्टि पर्यन्त विद्यमान होता है। जब दृष्टि नहीं होती, तो फिर वह स्थिर नहीं रहता, और एवमेव फिर दूसरी दृष्टि में वह नवीन रूप में प्रकट होता है, और यह जाग्रत-संसार उसके विरुद्ध दृष्टि के पश्चात् शेष रहता है, और प्रत्येक जाग्रत में नूतन रूप में प्रकट नहीं होता वरन् उसका वही रूप फिर विद्यमान होता है, इससे सिद्ध होता है कि काल्पनिक वा मनोमात्र वह नहीं।

(२८५) ऐ श्वेतकेतु ! यह भ्रान्ति जो तुम को होती है, यह भी अन्तःकरण के एक विचित्र भेद वा उपाधि से है, क्योंकि अन्तःकरण समष्टि और व्यष्टि रूप से दो अवस्थाएँ रखता है। जहाँ वह समष्टि और व्यष्टि रूप से लोप होता है, वहाँ उसकी कल्पनाएँ और कल्पित रूप भी तत्काल लोप होजाते है ; और जहाँ पर वह समष्टि रूप से तो स्थिर रहता है और व्यष्टि रूप से लोप हो जाता है, वहाँ उसकी समष्टि रूप से कल्पनायें भी स्थिर रहती हैं, पर व्यष्टि रूप से लोप हो जाती हैं। और जब वह फिर

अपनी समष्टि अवस्था में उदय होता है, तो यद्यपि उसकी कल्पनाएँ नवीन होती हैं, किन्तु समष्टि रूप से वही अपने पूर्व से स्थिर सिद्ध होती हैं।

(२६८) जब वह मानवी अन्तःकरण जाग्रत से स्वप्न या घनसुषुप्ति में जाता है, तो अन्तःकरण व्यष्टि अवस्था से लोप होता है और समष्टि अवस्था से स्थिर और शेष रहता है; और जब वह स्वप्नावस्था से सुषुप्ति या जाग्रत में आता है, तो समष्टि और व्यष्टि रूप से वह तत्काल लोप होता है। इसी कारण जाग्रत-अवस्था के पदार्थ स्थिर और स्थायी जान पड़ते हैं और स्वप्न या स्वप्नावस्था के पदार्थ अस्थाई और अस्थिर प्रतीत होते हैं। और इसी अन्तर के कारण यह नहीं विचार करना चाहिये कि जाग्रतावस्था के पदार्थ कल्पित या मनोमात्र नहीं हैं।

(२८७) इस विचित्र भेद के समझने के लिये तुम स्वप्नावस्था की ओर ध्यान दो। यह स्पष्ट है कि स्वप्नावस्था में जब स्वप्न संसार उत्पन्न होता है, तो देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुदत्त की आकृतियाँ उत्पन्न होती है, और सोये मनुष्य की आकृति भी उसी रंग-ढग से स्वप्न-जगत की उत्पन्न होती, है और यह समस्त स्वप्न ससार सोये हुए मनुष्य के अन्तःकरण में विद्यमान और कल्पित होता है, और देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुदत्त के रूप में भी वही अन्तःकरण विभक्त सा होकर व्यष्टि-अवस्था से प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुदत्त के रूप में विशिष्ट होता, समष्टि अन्तःकरण का तद्रूप हुआ समष्टि अन्तःकरण में स्थित होता है, और देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुदत्त के काल्पनिक रूपों में सम्बन्धित हुआ उस स्वप्न-संसार में तरंगायित और समु-

दाहृत होता प्रत्येक व्यक्ति देवदत्त, यज्ञदत्त, और विष्णुदत्त के नियत रूप में स्वप्न-संसार का दृश्य रचता है। किन्तु कल्पना करो कि इस स्वप्न-संसार में अकेला देवदत्त पुनः स्वप्न या घन सुषुप्ति में हो गया है; तो यह बात स्पष्ट है कि इस अवस्था में देवदत्त के अन्तःकरण की दृष्टि से स्वप्न-संसार दिखाई नहीं देगा, यद्यपि यज्ञदत्त और विष्णुदत्त के रूप की दृष्टि से दिखाई देता रहेगा। और जब वह देवदत्त स्वप्न-दर स्वप्न से निकलेगा, तो उसी स्वप्न संसार में उठेगा और उसको स्थिर और स्थायी कल्पित करेगा। यद्यपि वह वास्तव में स्थिर और स्थायी नहीं, वरन् दृष्टि सृष्टि ह।

(२८८) इसी तरह जाग्रत में भी यह अकेला अन्तःकरण बाहर के प्रत्यक्ष नाम-रूप में तरंगायित और समुदाहृत होकर 'अहम्' 'त्वम्' भाव के प्रत्येक रूप में अनेकशः व्यक्तिवान् हुआ संसार दर्शन करता है। जब एक अकेले व्यक्ति अथवा कई एक व्यक्तियों के अन्तःकरण स्वप्न में होते हैं, तो प्रत्येक सोये हुए के विचार से यह संसार अप्रत्यक्ष वा अविद्यमान होता है। समष्टि अन्तःकरण के विचार से स्थायी व स्थिर रहता है। और जब वे व्यक्तिगत अन्तःकरण स्वप्न से निकलते है, अपने समष्टि अन्तःकरण में तद्रूप होते इसी संसार के रूप में फिर नवीन मूर्तिमान् होते हुए उसके स्थिर और स्थायी होने का भ्रम करते है।

(२८९) जिस समय जाग्रत-संसार से समष्टि और व्यष्टि अवस्था की दृष्टि से अन्तःकरण एक समान लोप होगा, फिर प्रलय होगी और कुछ भी स्थिर न रहेगा। इसी कारण शास्त्रकार समष्टि अन्तःकरण के विनाश वा अविद्यमानता के विचार से प्रलय पर्यन्त ब्रह्मा का एक दिन कल्पना करते हैं,

और समष्टि अन्तःकरण के खयाल से इसी परमात्मा को ब्रह्म या हिरण्यगर्भ बोला करते हैं। इस कारण से क्या जाग्रत् संसार और क्या स्वप्न-संसार सब दृष्टि-सृष्टि ही या मनोमात्र है, वास्तविक अथवा बाहर में स्थित नहीं।

(२६०) जब ज्ञात हुआ कि जगत् की असलियत वास्तव में यह अद्वैत स्वरूप परमात्मा ही समष्टि अन्तःकरण की कल्पनाओं में कल्पित हुआ जगत्रूप है, और अन्तःकरण वास्तव में ठीक माया की असलियत है, ऐसी दशा में समस्त भूत और भौतिक पदार्थ अन्तःकारण के विलास-मात्र हैं, यद्यपि अन्तःकरण भूतों का कार्य्य नहीं। इस कारण तत्त्ववेत्ता पुरुष, जो अन्तःकारण को भूतों की अन्तिम उत्पत्ति वा अन्तिम परिणाम अनुमान करते हैं, भूल और ग़लती में है।

(२६१) ऐ श्वेतकेतु ! संसार में जो कुछ विचित्रता दिखाई देती है वह सब इसी अन्तःकरण की है। इस अन्तःकरण के विद्यमान हुये यह जीव रूप परमात्मा जो उस में प्रतिबिम्ब की रीति से प्रकट और विकसित हुआ है, मोह को प्राप्त होता है। यदि यह मन न होता है, तो वह मोह को भी प्राप्त न होता। और जब मोह भी इस जीवात्मा में न होता, तो ईर्षा और कृपणता आदि नीच वृत्तियां भी उसमें न होती। और जब ईर्षा और कृपणता आदि नीच वृत्तियां भी न होतीं, तब यह परमात्मा संसार को भी न प्राप्त होता। इस से सिद्ध हुआ कि परमात्मा के प्रतिबिम्ब का साथी, या परमात्मा के प्रतिबिम्ब को अपने साथ उत्पन्न करनेवाला यह अन्तःकारण ही वास्तव में संसारी है, और संसार की सारी इमारत का यही मेमार है।

(२६२) ऐ श्वेतकेतु ! जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा

जन्म-मरण संसार एवम् बन्ध-मोक्ष सब इसी अन्तःकरण की दृष्टि वा उपाधि से इस परमात्मा में यों हीं कल्पित होते हैं। यथार्थ दृष्टि से परमात्मा इन सब से शुद्ध पवित्र है। परमेश्वर के निकट होना और उसको पहचान लेना, और उसके लिये काम करना तथा उसकी ओर दौड़ना, यह सब काम अन्तः-करण के ही हैं और ईश्वरीय वस्तुओं का ज्ञान भी उसी से सम्बन्धित है। और यही अन्तःकरण ईश्वर के निकट स्वीकृति हो जाता है जब कि वह अन्य की ओर ध्यान नहीं दिए होता; और यही आवरण रूप भी हो जाता है जब कि अन्य की ओर ध्यान दिये होता है; और इसी से पूछा-ताछी का सम्बन्ध है, और इसी को बिधि-निषेध की आज्ञा है, और इसी पर पुण्य-पाप-फल (अथवा नरक व स्वर्ग) है; अतः यदि पवित्रता और निर्मलता प्राप्त हो गई तो कल्याण को पहुँचता है, और यदि मलिनता में पड़ा रहा, तो दुर्भाग्य और निराशा का वृक्ष होता है।

(२९३) हे भगवन्! यह अन्तःकरण समस्त संसार का आरम्भ (निकास) और बर्ताव करनेवाला है, तो इसका भी कोई उपादान कारण है जिस में यह स्थिर और दीन है?

(२९४) ऐ श्वेतकेतु! इस अन्तःकरण का उपादान कारण यही प्रथम विशेषण या महत तत्त्व है जिसको संस्कृत में "कारण शरीर" बोला करते हैं, और सूफी लोगों ने इसी को "जबरूत" नाम दिया है। अतः "आलमे-जबरूत" अथवा "कारण शरीर" में ही यह दीन (अधीन) और कार्य्य हो रहता है, क्योंकि ज्ञानी पुरुषों के निकट सब तीन लोक हैं—जबरूत, मलकूत और नासूत। संस्कृत में आलमे जबरूत

को "कारण-शरीर" कहा करते हैं, आलमे-मलकूत को "सूक्ष्म शरीर" बोला करते हैं, और आलमे-नासूत को 'स्थूल शरीर' कहा करते हैं।

(२६५) समस्त शरीर धारी और प्राणी का जो अज्ञान है, वही अज्ञान वास्तव में 'कारण शरीर' या 'आलमे-जबरूत' है, और चूँकि वह अकेला अज्ञान सबको एक समान है और यही वास्तव में दुख और शोक का कारण है, और यही सूक्ष्म और स्थूल शरीर का आदि (निकास) है, इसी लिए यह कारण शरीर सबसे ऊपर के लोक में गिना जाता है, जह यह उत्तमता लौकिक-पारलौकिक दृष्टि से नहीं, वरन् कारण-कार्य की दृष्टि से है; और चूँकि कारण को कार्य पर प्रथमता और श्रेष्ठता होती है, इसी लिए अज्ञान या कारण शरीर की अर्द्धवतम लोक में गणना की गयी है।

(२६६) हे भगवन्! यह आपने विचित्र बात कही कि अज्ञान ही वास्तव में कारण शरीर है। इसका क्या प्रमाण है? क्योंकि जब तक इसका पूर्ण प्रमाण मुझको स्पष्ट न होगा, तब तक मैं कारण शरीर को स्वीकार नहीं कर सकता।

(२६७) ऐ श्वेतकेतु! सारे मनुष्यों का अनुभव ही इसी बात का प्रमाण है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य घनसुषुप्ति से उठकर यह चर्चा करता है कि मैं आनन्द और अचेत अवस्था में था, अतः इस अचेत और आनन्द अवस्था की ऐसी चर्चा ही उसे आनन्दरूप और अचेतरूप जानने के लिये पर्याप्त दलील (युक्ति) है, और घनसुषुप्ति वास्तव में कारण शरीर की अवस्था प्राप्त करना है। और कारण शरीर चूँकि अनुभव से अज्ञान-अवस्था और अचेतनावस्था सिद्ध होता है, इसलिये अज्ञान ही कारण शरीर है।

(२६८) फिर क्योंकि घनसुषुप्ति में केवल अज्ञान का ही साक्षात्कार संसार को नहीं होता, वरन् सुख और आनन्द का भी साक्षात्कार होता है। और इस हेतु कि हम सिद्ध कर चुके हैं कि परमात्मा सत् स्वरूप, ज्ञान स्वरूप अर्थात् चित स्वरूप और आनन्द स्वरूप है, इससे परमात्मा का भी अनुभव वा साक्षात्कार वहाँ होता है, अतः इस अज्ञान और कारण शरीर से विशिष्ट परमात्मा से भूत और अन्तःकरण कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय, शरीर तथा शरीर धारी सब के सब उत्पन्न होते हैं, और इन समष्टि अन्तःकरणों तथा इन्द्रियों से विशिष्ट और उनकी उपाधि वाला होने के विचार से वही परमात्मा ईश्वर या हिरण्यगर्भ कहलाता है, और इसी ईश्वर को आत्मदर्शी पुरुष उपास्यदेव ख़याल किया करते हैं, और शास्त्रकार इसी उपास्य को 'अधिदेव' बोला करते हैं। और व्यष्टि रूप अथवा प्रत्येक व्यक्तिगत अन्तःकरण और उसे की संक्षिप्त इन्द्रियों के विचार से जो परमात्मा प्रत्येक अन्तःकरण से विशिष्ठ और उसकी उपाधि वाला होता है, वही अबद् कहलाता है, और शास्त्रकार उसीको "तेजस" नाम करते हैं, और यही अध्यात्म भी कहलाता है।

(२६६) अन्तःकरण और इन्द्रिय जो ऊपर वर्णन किए गये हैं, यही (सब मिलकर) वास्तव में सूक्ष्म शरीर कहलाता है, और इसी शरीर में उस का अभिमानी परमात्मा समष्टि और व्यष्टि रूप के विचार से हिरण्यगर्भ और तेजस नाम से प्रसिद्ध होता है। और यह सूक्ष्म शरीर यद्यपि कारण शरीर की दृष्टि से कार्य है, तो भी स्थूल शरीर का उपादान कारण है। इसी जाग्रत जगत या स्थूल शरीर को हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुआ शास्त्रकार लिखते हैं।

(३००) इसहेतु कि स्थूल शरीर अर्थात् पंचीकृत भूत

और भौतिक पदार्थ इस हिरण्यगर्भ या ईश्वर से उत्पन्न होते हैं, और वह भी समष्टि और व्यष्टि रूप की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। वही परमात्मा समष्टि स्थूल शरीर का अभिमानी हुआ 'विराट' कहलाता है, और वही परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् व्यष्टि स्थूल शरीर वा मानुषी देह का अभिमानी हुआ मनुष्य कहलाता है, जिसको शास्त्रकार अपनी भाषा में विश्व (जीव) बोला करते है। और वह विराट पुरुष अधिदेव या उपास्य है, और यह मनुष्य अध्यात्म है।

(३०१) ऐ श्वेतकेतु ! प्रत्येक मनुष्य और प्राणी को, जो व्यष्टि रूप से अपना-अपना शरीर या देह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, यह देह या शरीर ही वास्तव में जाग्रत अवस्था का स्थान है, और वह सूक्ष्म शरीर अर्थात अन्तःकरण सहित ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के वास्तव में स्वप्न का स्थान है।

(३०२) ऐ श्वेतकेतु ! यह प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण, जो वास्तव में स्वप्न का निकास व अधिष्ठान है, दो अवस्थाएँ रखता है, एक अवस्था उसकी स्वप्न-संसार वा ज्ञात रूपों को प्रकट करने वाली है, और दूसरी अवस्था उसकी तमरूप और निश्चेष्ट वा जड़ता पूर्ण है, स्वप्न संसार से रहित अतः प्रथमावस्था को स्वप्नावस्था कहा करते हैं और दूसरी अवस्था को सुषुप्ति।

(प्रयोजन) ऋषिजी का तात्पर्य वा अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण की वास्तव में दो अवस्थाएँ है। एक अवस्था उसकी तमरूप और निश्चेष्ट वा जड़रूप है, और उसमें वर्तमान रूपों का तत्कालिक अभाव होता है। यद्यपि नित्य के लिये रूप उससे लोप नहीं होते। और इस अवस्था की दृष्टि से इसी अन्तःकरण का नाम अज्ञान या कारणशरीर होता है, और परमात्मा

का नाम इस अवस्था की उपाधि के कारण अव्याकृत या प्राज्ञ जीव होता है । हिरण्यगर्भ वा बाह्य संसार का निकास वा कारण होने के ख़याल से अव्याकृत कहलाता है, और तेजस का निकास वा कारण होने की दृष्टि से प्राज्ञ कहलाता है । सूफ़ी लोग इसी अव्याकृत को हक़ीक़ते-महमदी या प्रथमोपाधि नाम करते हैं । और अन्तःकरण की दूसरी अवस्था स्वप्न-संसार या ज्ञात रूप का निकास-स्थान है जो चेष्टा स्वरूप है । और यह अवस्था फिर दो प्रकार की होती है, क्योंकि ज्ञात रूप उसमें या तो स्थिर व स्थायी क्रमानुसार होते हैं, ऐसी अवस्था को जाग्रतावस्था बोला करते हैं, और या वह रूप इसमें अस्थिर व अस्थायी मानसिक क्रम से होते हैं, अन्तःकरण की ऐसी अवस्था को स्वप्नावस्था कहा करते हैं। यह प्रत्येक अवस्था समष्टि और व्यष्टि रूप से दो प्रकार की होती है । अतः उस उपाधि से युक्त हुआ परमात्मा दो-दो नामों से अभहित होता है, और समष्टि-दृष्टि से उपास्य या अधिदेव कहलाता है, व्यष्टि दृष्टि से जीव कहलाता है, और वही उपास्यदेव जाग्रत अवस्था की दृष्टि से विराट कह-लाता है, और यही उपास्यदेव स्वप्न अवस्था की दृष्टि से हिरण्यगर्भ कहलाता है, और वह जीव जाग्रतकाल की दृष्टि से विश्व कहलाता है, और वही जीव स्वप्न कालकी दृष्टि से तेजस बोला जाता है । अतः एक परमात्मा के नाम उस अकेले अन्तःकरण के कारण विविध होते हैं, वास्तव में वह परमात्मा अनेक वा विभक्त नहीं हुआ, अन्तःकरण की उपाधियों के विविध होने से भिन्न-भिन्न नामों को प्राप्त होता है, वह स्वयम् भिन्न वस्तु नहीं हो जाता ।

(३०३) ऐ श्वेतकेतु ! यह सुषुप्ति-अवस्था वह अवस्था

है जिसमें वर्तमान काल का समस्त नानत्व अभाव हो जाता है, और सच्ची एकता प्राप्त होती है। और चूँकि नानत्व वा अनेकत्व ही वास्तव में दुख शोक का करण है, इसलिए इस दशा में समस्त दुख-शोक का अभाव होता है। और इस हेतु कि एकता ही सच्चा सुख और आनन्द है, इसलिए इस अवस्था में जीवात्मा आनन्दस्वरूप परमात्मा में विलीन वा अभेद होता है।

(३०४) ऐ पुत्र! यह जीवात्मा जो अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब की रीति से प्रकट हुआ है, इस अवस्था में बिम्बरूप परमात्मा से मिल जाता है। और यह बिम्बरूप परमात्मा नित्यानन्द स्वरूप और सच्चा सुख है और समस्त भेदों से रहित कैवल्य रूप है, इसी कारण यह परमात्मदेव भूख-प्यास और सुख-दुख तथा जन्म-मरण रूपी षट विकारों से रहित है। इस परमात्म देव से मिला हुआ यह जीव भी सारे दुख-शोक से रहित और पवित्र हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस तरह दर्पण की उपाधि के टूट जाने से दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप अपने वास्तविक स्वरूप में मिल जाता है; वैसा ही सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण की उपाधि के लोप हुए अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव-आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा में प्राप्त हो जाता है।

(३०५) ऐ श्वेतकेतु! जिस प्रकार यह जाग्रत और स्वप्न अवस्था भी केवल अन्तःकरण की अवस्थाएँ या विकार है; इसी तरह यह सुषुप्ति-अवस्था भी अन्तःकरण की अवस्था या विकार हैं, क्योंकि स्वप्नावस्था में यह अन्तःकरण भी विक्षिप्त वा चेष्टवान् दशा से थक कर इस सुषुप्ति अवस्था में स्थिर वा निश्चल होता है।

(३०६) ऐ श्वेतकेतु ! इस अन्तःकरण का वही उदाहरण है जैसे कोई जीवधारी किसी पिंजड़े में बँधा हुआ अपने आहार के लिये पिंजड़े के भीतर ही भीतर उड़ता है, और जब वह दीन हो जाता है, तो अन्त में बीच पिंजड़े में जहाँ बँधा हुआ है, स्थिर और आनन्दावस्था में हो जाता है। इसी तरह यह अन्तःकरण का बाज़ (पक्षी) भी हृदय कमल में पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों की डोरी से बँधा हुआ इसी शरीर-रूपी-पिंजड़े में उड़ता है, और विषय रूपी पदार्थों की इच्छा करता सब ओर व्याकुल होता है, और जाग्रत तथा स्वप्न में आराम नहीं लेता। क्योंकि तीन प्रकार के दुखों से वह दुखित है, किन्तु जब वह विषय भोगों के जगत् में दौड़ता हुआ शिथिल हो जाता है और जाग्रत व स्वप्न के भोग देनेवाले कर्मों की छाँट होती है, तब यह अन्तःकरण का बाज़ हृदय-कमल में निश्चल हुआ सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त होता है

(३०७) ऐ श्वेतकेतु ! इस सुषुप्ति अवस्था में लुप्त अन्तःकरण का अधिष्ठान वही परमात्मदेव है, जो मूल-अज्ञान की उपाधि से उपाधिवान् हो रहा है। और उस कारण-अज्ञान विशिष्ट-परमात्मा से अतिरिक्त कोई दूसरा स्थान उसके लोप होने के लिये नहीं है, जहाँ वह आनन्द प्राप्त करे। निदान इस सुषुप्ति में वह अन्त करण तो अज्ञान में लोप होता है और उस अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब की रीति से जो जीवात्मा है बिम्ब-रूप परमात्मा में बिभक्त हुआ भी तद्रूप हो जाता है।

(३०८) ऐ श्वेतकेतु ! सुषुप्ति में जो यह अन्तःकरण उसी अज्ञानोपहित परमात्मा में विलीन होता है, उसका कारण यही है कि इस आनन्द स्वरूप परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो इस अन्तःकरण से नाश योग्य नहीं, क्योंकि स्थूल सूक्ष्म

जो कुछ प्रत्यक्ष प्रपंच है सब इसी अन्तःकरण के कार्य वा संकल्प हैं। और यह सर्वस्वीकृत नियम है कि कार्य अपने कारण में विलीन वा लुप्त होता है, और कारण अपने कार्य में कभी विलीन वा नाश नहीं होता। देखो घट-पट का नाश (अभाव) मिट्टी और सूत में होता है, मिट्टी और सूत का नाश व अभाव घट-पट में नहीं होता। वैसे ही अन्तःकरण वास्तव में उस अज्ञानोपहित परमात्मदेव का प्रथम कार्य है, और समस्त संसार इस अन्तःकरण का कार्य है, इसलिये अन्तःकरण अपने कार्यों में नाश नहीं होता, वरन् अपने उपादान कारण परमात्मदेव में ही नाश वा विलीन होता है।

(३०६) ऐ श्वेतकेतु! जहाँ यह अन्तःकरण परमात्मा के प्रतिविम्ब सहित विलीन होता है, वही परमात्मदेव पूर्वोक्त पँच भूतों और भौतिक पदार्थों का निकास व उपादान कारण है, और उसी परमात्मदेव में तुम अपना सर्वान्तर्यामी जानना। इस व्याख्यान का तात्पर्य येह है कि मनुष्य को चाहिए जहाँ वह सुपुप्ति में निवास करता है, उसीको संसार वा शरीर का आदि भूत वा निकास विचार करे। किन्तु जाग्रत और सुषुप्ति में जो अन्तःकरण का सूर्य इसी प्राचीन दिशा से उदय होता है, इस दृष्टि से इस आदि भूत को सुपुप्ति बोलते हैं, और चूँकि इसी प्राचीन दिशा से पञ्चभूत और भौतिक पदार्थ भी निकलते हैं, इस दृष्टि से इसी आदि भूत को अव्याकृत बोलते हैं, इस स्थान से पृथक ख़याल वा कल्पना नही करनी चाहिए।

(११०) हे भगवन्! वेदान्तियों का सिद्धान्त यह है कि परमात्मदेव की प्राप्ति हो कर फिर जन्म मरण संसार नहीं होता और आपने वर्णन किया है कि सुपुप्ति-अवस्था में समस्त मनुष्यों को परमात्मदेव की प्राप्ति होती है, तो इस कारण से

सबकी मुक्ति होनी चाहिए, और यद्यपि होती नहीं, अपितु सबको जन्म-मरण रूप संसार प्राप्त रहता है, इसका क्या कारण है ?

(३११) ऐ श्वेतकेतु ! यद्यपि सुषुप्ति में सब कोई परमात्मदेव से मिलाप पाए होता है, किन्तु मुक्त आत्मदर्शियों के और सुषुप्ति में निमग्न मनुष्यों के मिलाप में अन्तर यह है कि आत्मदर्शियों का अन्तःकरण अपने रूप से नित्य के लिये परमात्मा-स्वरूप में नाश वा विलीन होता है, और अज्ञानियों का अन्तःकरण यद्यपि परमात्मा में तत्कालीन विलीन वा लोप होता है, किन्तु नित्य के लिये वासना-रूप से नाश नहीं होता। इसी कारण वह फिर उदय होता है। इसका कारण यह है कि आत्मदर्शियों का अज्ञान प्रकाशस्वरूप आत्मा के अनुभव के कारण इस तरह उड़ जाता है जिस तरह भौतिक ज्योति से भौतिक अंधेरा उड़ जाता है। और इस हेतु कि यह मूल-अज्ञान अन्तःकरण का मूल या उपादान कारण है और उसके मूलोच्छेदन के कारण नाशमान हुआ अन्तःकरण फिर नही उत्पन्न होता, (जैसाकि मूलोच्छेदन के पश्चात् फिर वृक्ष नहीं निकलता)। किन्तु अज्ञानियों का अज्ञान मूल रूप से स्थित होता है, और जब उनका अन्तःकरण लोप होता है तो फिर अज्ञान की जड़ (मूलाज्ञान) से इसी प्रकार निकल आता है जैसाकि ऊपर से काटा हुआ वृक्ष फिर अपनी असली जड़ से अङ्कुरित होता है। और इसके अतिरिक्त अज्ञानी जन जो सुषुप्ति काल में स्वरूप से मिलाप पाये होते है, मूल अज्ञान के कारण मिलाप के आनन्द और सुख से बेखबर रहते है, और आत्मदर्शी जो समाधि में निज स्वरूप से मिलाप पाए जाते हैं, अन्तःकरण विनाश होने

के कारण जगत् का नानात्व तो अभाव हुआ होता है और अज्ञान भी दूर हुए होता है, वे अपने स्वरूप की एकता के आनन्द और सुख से बेख़बर नहीं होते।

(३१२) ऐ श्वेतकेतु ! यद्यपि परमात्मदेव अकेला है, किन्तु मनुष्यों के ये अन्तःकरण अनेक असंख्य है, और सुख-दुख, बन्ध-मोक्ष, समस्त गुण अन्तःकरणों के ही हैं आत्म स्वरूप के नहीं। इसी कारण कुछ नींद और कुछ दुखी, कुछ सुखी, यह बर्ताव अन्तःकरणों की दृष्टि से अकेले आत्म-स्वरूप में हो सकता है।

(प्रयोजन)—यहाँ तक ऋषिजी ने परमात्मादेव के प्रतिबिम्ब की जीव वा मनुष्य से एकता और समीपता दर्शाई, अब उसकी अपने अधिष्ठान से एकता और समीपता दिखलाते हैं।

(प्रयोजन) परिणाम इस एकता व समीपता से यह निकला कि जिस तरह प्रतिबिम्ब की एकता व समीपता बिम्ब से है, इसी तरह जीव की एकता व निकटता सत् आत्मा से है, और जिस तरह दर्पण टूट जाने के पश्चात् प्रतिबिम्ब में (बिम्ब) प्रतिबिम्ब वाला हो जाता है, इसी तरह इन्द्रिय-दमन और अन्तःकरण के विनाश से यह जीव भी सत् आत्मा से मिलाप पाता वरन् सत् स्वरूप ही हो जाता है, इसी कारण इन्द्रियों का शम दम जिज्ञासु के लिये पहला पग (साधन) नियत हुआ है।

(प्रयोजन) यद्यपि इन्द्रियों के शम-दम से स्वतः अन्तः करण की वासना नष्ट होती है, किन्तु उनका मूल या मूल-अज्ञान इस शम-दम से दूर नहीं होता, और वह आत्म-साक्षात्कार से ही होता है, जैसा कि इस व्याख्यान में उसका निरा-

वरण साक्षात्कार अन्तःकरण में ऋषिजी ने कराया, इसलिये मुमुक्षु की अन्तिम सीढ़ी निरावरण आत्मदर्शन है।

(३१३) ऐ श्वेतकेतु ? यह सुषुप्ति अवस्था जो मुक्ति की अपेक्षा कुछ दूषित है अन्तःकरण अर्थात वासना की विद्यमानता के कारण आनन्द स्वरूप आत्मा से सम्बन्धित है और पारस्परिक प्रतिबिम्ब और बिम्ब की अभेदता वा मिलाप का फल रखती है वैसे जाग्रत व स्वप्नावस्था भी अन्तःकरण के कारण उसी परमात्मा से अभीष्ट है और पारस्परिक प्रतिबिम्ब और बिम्ब की अभेदता वा मिलाप का फल रखती है, वैसे जाग्रत व स्वप्नावस्था भी अन्तःकरण के कारण उसी परमात्मा से सम्बन्धित है, बिम्ब व प्रतिबिम्ब की एकता का फल रखती है। सुषुप्ति में जीवात्मा और परमात्मा की एकता तो स्पष्ट ही है, और जाग्रत व स्वप्न में इस सिद्धान्त के अनुसार कि प्रतिबिम्ब में बिम्ब होता है, एकता प्राप्त है।

(प्रयोजन) तत्त्वदर्शियों के निकट प्रतिबिम्ब की असलियत में यह सिद्ध हुआ है कि दृष्टि-रेखा दर्पण की स्वच्छता के कारण उलटकर मुख ही को बाह्य साक्षात करती है, किन्तु इस हेतु कि चक्षु सदैव दृश्य पदार्थों की सीध में देखा करता है इसलिये बाह्यमुख की सीध में दर्पण को भीतर होने का भ्रम करती है, वास्तव में दर्पण के भीतर वह मुख नहीं होता, अतः अकेले मुख को दर्पणसे बाहिर अपने आप में स्थित होने के कारण बिम्ब बोला करते हैं। बाह्य मिथ्या मुख का असली मुख में प्रवेश दर्पण की उपाधि के कारण आरोपित होता है, इन मिथ्या उपाधियों के कारण असली मुख में कोई अन्तर या दोष सिद्ध नहीं होता, इसीलिये तत्त्व दर्शियों के

निकट यह सिद्धान्त रूप से निश्चय हुआ है कि प्रतिबिम्ब ठीक अपने बिम्ब का ही रूप होता है।

(३१४) ऐ श्वेतकेतु ! वास्तव में नाम और रूपों से रहित यह परमात्मदेव अन्तःकरण और शरीर से सम्बन्ध होने के कारण नाम रूप वाला सा दिखाई देता है, यद्यपि नाम-रूप का उसमें प्रवेश नहीं है, जिस प्रकार मृगतृष्णा स्थल में चमकती हुई बालू जल के रूप में दिखाई देती है। क्योंकि यह परमात्मदेव वास्तविक दृष्टि से अन्तःकरण में उसी तरह प्रविष्ट नहीं हुआ, जिस तरह दर्पण में रूप प्रविष्ट नहीं हो जाता, तो भी उसी तरह अन्तःकरण के भीतर दिखाई देता है जैसेकि दर्पण में रूप भी भीतर दिखाई देता है। इस हेतु कि वह अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं हुआ, शरीर और अन्तःकरण की आकृतियाँ उसमें वास्तविक दृष्टि से कभी प्रविष्ट नहीं हुईं तो भी उन शारीरिक और मानसिक आकृतियों से विशिष्ट हुआ दृष्टिगोचर है।

(३१५) ऐ श्वेतकेतु ! जिस प्रकार यह परमात्मा वास्तविक दृष्टि से शरीर और शरीरत्व के विशेषणों से रहित है, तब भी उनसे विशिष्ण सा दिखाई देता है। उसी तरह शरीर और शरीरत्व के गुण भी परमात्मा में अध्यारोपित तो नहीं, किन्तु अध्यारोपित से दिखाई देते हैं, इसी कारण जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में खानेवाला और पीनेवाला वह कहा जाता है। जिस तरह वास्तव में नहीं खाता हुआ खानेवाला और नहीं पीता हुआ पीनेवाला इस अवस्था में दिखाई देता है, वैसा ही सुषुप्ति में वह नहीं सोता हुआ भी सोता कहा जाता है।

(३१६) ऐ श्वेतकेतु ! खाना-पीना वास्तव में प्राणों का

गुण है, क्योंकि प्राण प्रत्येक क्षण में घुलता रहता है, और अपने बहने वा घुलने के बदले में वह आहार (अन्न) का अपेक्षुक है, इसी कारण वह हानि के समय गले के मार्ग द्वारा पाकस्थली से भोजन पानी की माँग वा इच्छा करता है, और यही भीतर से माँग वास्तव में भूँख-प्यास का असली रूप हैं। आत्मदेव अपने स्वरूप में भोजन-पानी का अपेक्षुक नहीं है, क्योंकि वह सत्-स्वरूप सिद्ध हुआ है, और वह इसी कारण घुलने वा हानि के योग्य भी नहीं। इस हेतु कि वह व्यय वा हानि के योग्य भी नहीं वह खाने पीने का अपेक्षुक भी नहीं। और जब कि वह भोजन-पानी की भी अपेक्षा नहीं रखता, खाने पीने वाला भी नहीं होता। और फिर क्योंकि भोजन पानी का आकांक्षी प्राण है, इसलिये वास्तव में खाने पीने वाला भी प्राण ही है।

(३१७) ऐ श्वेतकेतु ! यद्यपि खाना-पीना आत्मा की अपेक्षा स्वयं प्राण ही में सिद्ध होता हैं, तो भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि की जाय तो प्राण का भी काम नहीं, वरन् अग्नि और जल में ही स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जब भोजन शरीर में पाकस्थली में जाता है, तो जलकी तरलता के कारण वह एक प्रकार की देही के रूप में होता है, और उदर की आंतों के मार्ग से उसका सार या सूक्ष्म अंश यकृत में जाता है, और प्राण के कारण वह पका हुआ जल वात् पित कफ़ के रूप में बदल जाता है। इससे सिद्ध होता है कि खाना-पीना वास्तव में तत्त्वों में ही हो सकता है। इसी कारण वेदविक पंडित अग्नि पानी को ही खाने वाला जानते हैं और उसी में हवन करते हैं।

(३१८) ऐ श्वेतकेतु ! इस बात की असलियत सरल रीति से समझने के लिये तुम यह उदाहरण मालूम करो जैसा कि जब कोई गौवों को ले जाता है, तो उसको गऊ

वाला कहते हैं, और जब कोई घोड़ों को ले जाता है तो उसको साईस बोला करते हैं, इसी तरह भोजन को आग पानी ही ले जाता है और अपने में मिला लेता है, इसी कारण श्रुतिभगवती पानी को अशनाया इस नाम से अभिहित करती है और अग्नि को उदन्या इस नाम से पुकारती है। अशनाया संस्कृत-भाषा में पीने वाला या प्यासा है, और उदन्या संस्कृत-भाषा में खानेवाला या भूखा है।

(३१६) ऐ श्वेतकेतु! यद्यपि वास्तव में यह आत्मा खाने-पीने से रहित है, वरन् यह सभी गुण प्राण या भूतों के हैं; परन्तु इस हेतु कि हमने सिद्ध किया है कि प्राण और भूत वरन् समस्त संसार का उपादान कारण यही परमात्मा है और उसी के ये सब तद्रूप हैं, इस अभेदता के सम्बन्ध से ये सभी गुण आत्मा में ही कल्पित होते हैं, इसलिये सर्व-साधारण इसी को खाने पीने वाला जानते हैं।

(प्रयोजन) ऋषिजी का तात्पर्य यहाँ आत्मा की पवित्रता और निर्लिप्तता से है, कि वास्तविक दृष्टि से वह समस्त गुणों से रहित है; न वह खाता है, न पीता है, न सोता है, न वह जागता है, न वह क्रोध करता है, न दया करता है और न वह सृष्टा है, न प्रतिपालक है, वरन् खाना-पीना, क्रोध, शोक, आनन्द आदि गुण प्राण और अन्तःकरण के हैं, और वैसा ही जाग्रत और स्वप्न, तथा सृष्टापन व सृष्टत्व वास्तव में अन्तःकरण और अज्ञान की अवस्थाएँ व गुण हैं, तो भी अधिष्ठान रूप आत्मा में आरोपित और विद्यमान होते हैं, जैसा कि विकार और परिवर्तन तथा धूलि व राख जो वास्तव में सृष्टि या उत्पत्ति का गुण है, तो भी आकाश में उनका अध्यारोप

होता है, क्योंकि विद्वान् लोग यही निश्चय किया करते हैं कि आकाश निर्मल नहीं, यद्यपि आकाश तो स्वयं निर्मल स्वरूप है, उसमें कभी भी मलिनता, राख, धूलि आदि नहीं राह पाती, तो भी वह धूलिमय दिखाई देता है। इसी तरह आत्मा में उसका अपना स्वरूप समस्त गुणों से रहित और पवित्र है, तो भी सर्व-साधारण मनुष्य उसमें मानवी और पाशविक गुणों को देखता उसको सत् नहीं जानता, और आत्मदर्शी मनुष्य जब इस प्रकार, जैसा कि ऋषिजी ने छाँट कर दिखाया है, विवेक से उसको पृथक् अनुभव करते हैं, और उसीको सत् जानते हैं।

(प्रयोजन) अब इस की निजी समीपता के प्रमाण के लिये प्रत्येक वस्तु में इसी परमात्मा को प्रत्येक के भीतर उसका आत्म सिद्ध करते हैं।

(३२०) ऐ श्वेतकेतु ! तुम पहले इस शरीर को कार्य जानो, और अन्न या वीर्य को इसका उपादान कारण जानो। इस हेतु कि अहार भीतर जा कर तरकीब बाद तरकीब, रस, रक्त, मज्जा होता हुआ अन्त में वीर्य होता है और शरीर की उत्पत्ति का कारण होता है, और पुनः वह शरीर अन्न से ही परिपालित होता है। इस लिये यह शरीर अन्न का ही कार्य कहा जाता है। और फिर तुम अन्न को भी कार्य जानो, और उसका उपादान कारण पृथिवी या धूलि ही है। और फिर तुम उस पृथ्वी और धूलि को भी कार्य ही जानो, क्योंकि उसका उपादान कारण जल ही है। और फिर तुम जल को भी अग्नि का कार्य समझो, क्योंकि उसका उपादान कारण भी अग्नि ही है।

(३२१) ऐ श्वेतकेतु ! शरीर, अन्न, पृथ्वी, जल और अग्नि,

ये पाँच कार्य दर कार्य हैं, और इसी क्रम या रीति से प्रत्येक का उपादान कारण अपने कार्य के भीतर वास्तव में उसी कार्य का असली तत्त्व होता है, जैसे सुवर्ण के भूषणों का उपादान कारण सुवर्ण है, जो उनके भीतर उनका वास्तव में असली तत्त्व है, क्योंकि सुवर्ण के भूषण वास्तव में सुवर्ण ही हैं। और सब से भीतर पाँचवी कोटि वा स्थिति पर अग्नि है, और वह भी कार्य है, और उसका उपादान कारण यही परमात्मा है। इस लिये समस्त स्थितियों वा कोटियों में भीतर से भीतर सब का असली तत्त्व या सब की अहंता वास्तव में यही परमात्मा है। इस हेतु कि असली तत्त्व या अहंता को संस्कृत भाषा में आत्मा बोलते है, और सब से अत्यन्त परे, जो सब के भीतर या अन्तिम अहंता वा असली तत्त्व है, उसी को संस्कृत भाषा में परमात्मा बोला करते हैं। संस्कृत भाषा में परम शब्द का अर्थ अन्तिम का है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की अन्तिम अहंता वा स्वरूप यही 'सत्' है।

(३२२) ऐ श्वेतकेतु ! अग्नि का मूल या असली स्वरूप यही सत् वस्तु है, और यह अग्नि जल का मूल या असली स्वरूप है, और यह जल पृथ्वी का मूल या असली स्वरूप है, और यह पृथ्वी अन्न का मूल या असली स्वरूप है, और वह अन्न इस शरीर का मूल या असली स्वरूप है, इसलिये इस शरीर की मौलिक या अन्तिम अहंता वा असली स्वरूप वही सत् वस्तु है। इसलिये इस शरीर का वही परमात्मा है।

(३२३) ऐ श्वेतकेतु ! जैसे संसार में वृक्ष का एक मूल होता है और दूसरे अंकुर होते है। ऐसे ही श्रुति भगवती ने यह शरीर और शरीरस्वरूपी कार्यों के तो अंकुर के शब्द से वर्णन किया, और अन्न से लेकर सत् वस्तु तक को मूल के

शब्द से वर्णन किया है; अतः जिस प्रकार अंकुर की विवेचना (युक्ति वा प्रमाण) से मूल का निश्चय हुआ करता है, इसी प्रकार तुम इस शरीर और शरीरत्त्व से अन्न को मूल निश्चय करो। और अन्न रूपी अंकुर से तुम पृथिवी को मूल निश्चय करो, और पृथिवी रूपी अंकुर से तुम जल को निश्चय करो, और जल रूपी अंकुर से तुम सत् वस्तु को मूल निश्चय करो। वास्तव में यही सत् वस्तु मूल है और समस्त संसार इसी के अंकुर-मात्र हैं।

(३२४) ऐ श्वेतकेतु! यह सत् वस्तु परमात्मा ही समस्त भूतों का ठीक-ठीक उपादान कारण है। इसी लिए श्रुति भगवती इस परमात्मा को 'मूल' इस नाम से पुकारती है। और यही सत् वस्तु परमात्मदेव सब के अस्तित्त्व में आधार है। इसी कारण श्रुति भगवती इसी को अधिष्ठान कहती है। और वह सत्-वस्तु आत्मा ही समस्त संसार के विनाश का अधिष्ठान है, इसी कारण श्रुति भगवती इस परमात्मा को ही अद्वितीय, स्वयम्भू, स्वाधीन, सत् स्वरूप, आधार वा अधिष्ठान कहती है। और वास्तव में यह सत् वस्तु परमात्मा मूल, अधिष्ठान और आधार के नाम से भी परे व पवित्र है। उपर्युक्त उपाधियों वा कल्पनाओं से ही ये नाम उसमें आरोपित वा कल्पित होते हैं। ऐ श्वेतकेतु! इस प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्था में प्राण और शरीर के भ्रान्तिमय सम्बन्ध की दृष्टि से भूख प्यास के अधीन यह जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों के कारण अपने आपको अल्पज्ञता वा दीन जीव जानता है, वास्तव में उसके स्वरूप में अल्पज्ञता और दीनता किञ्चित सिद्ध या योग्य नहीं होती, बल्कि वह पूर्ण और सन्तुष्ट अर्थात् बे परवाह है।

(प्रयोजन) ऋषिजी के इस भाषण का परिणाम यह है

कि यह शरीर वास्तव में आरोपित है, मौलिक नहीं। मौलिक उसमें भूत हैं जिनमें ये शारीरिक रूप और गुण प्रविष्ट वा आरोपित हुए हैं। और फिर भूत वास्तव में मौलिक नहीं आरोपित ही है, जो सत् स्वरूप में कल्पित और प्रतिभासित हैं। और इस हेतु कि कल्पित वस्तुएँ बिना अपने मौलिक तत्त्व के स्थिर नहीं रह सकती, यह कल्पना पश्चात् कल्पना रूप में शरीर और शरीरत्त्व भी जिस स्वरूप से स्थिर हैं, वही स्वरूप इस शरीर का अधिष्ठान है।

(प्रयोजन) ऋषिजी के भाषण से यह भी सिद्धान्त निकलता है कि यह कल्पनाएँ तत्त्व-स्वरूप में ऐसी नहीं जैसा कि जामा (कपड़ा) में सफ़ेदी कल्पित होती है, वरन् सर्प की आकृति के समान इसमें आरोपित यह कल्पनाएँ कल्पित हैं। और इस हेतु कि सर्प की आकृति का अधिष्ठान वास्तव में रज्जु होता है और तत्त्व की दृष्टि से सर्पाकृति रज्जु से कुछ इतर वा सत् वस्तु नहीं होती, इस लिये वह रज्जुरूप ही है। इसी तरह ये शरीर और शरीरत्त्व की कल्पनाएँ भी मिथ्या और अद्वैत तत्त्व का तद्रूप ही हैं, और इस अद्वैत तत्त्व को सब का परम समीपस्थ असली तत्त्व बोला करते हैं।

(प्रयोजन) इससे पहले इसकी परम निकटता वा समीपता को हम प्रतिविम्बी सिद्ध कर चुके हैं, और उसमें इसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार ज्योतिषाम् ज्योति (ज्योतियों की ज्योति) हो चुका है, और इस आधार रूपी समीपता में यद्यपि ज्योतियों की ज्योति नहीं सिद्ध होता, तो भी वह सत स्वरूप सिद्ध होता है, और प्रत्येक वस्तु के अत्यन्त भीतर रक्खा हुआ वह सब का आत्मा सिद्ध होता है, इस लिये आत्मा की सीमा वा व्यापकता भी इस निकटता में सिद्ध होती है।

(प्रयोजन) प्रतिबिम्बी निकटता में यद्यपि वह ज्योतियों की ज्योति सिद्ध होता है, तो भी अन्तःकरण के भीतर परिच्छिन्न-सा दूसरे को दिखाई देता है, इसलिये अन्तःकरण की तथा भूत और भौतिक पदार्थों की उपाधियों के भ्रम-निवारण के लिये ज्योतियों के ज्योति स्वरूप आत्म-साक्षातार्थ मुमुक्षु को निजी निकटता वा समीपता की आवश्यकता होती है। और वह भ्रम निवारण बिना महावाक्य श्रवण किए दूर नहीं होता। इसलिये निजी निकटता वा समीपता के जतलाने के लिये ऋषिजी अब उचित अवसर समझते हैं कि महावाक्य सुना दिया जाय। इसलिये अब शरीर और शरीरत्व की गति को मृत्यु और जन्म में दिखाते हुए और इन कल्पित शरीर और शरीरत्व से उस आत्मा को अपरिच्छिन्न सिद्ध करते हुए ऋषिजी महावाक्य को सुनाना आरम्भ करते हैं।

(३२५) ऐ श्वेतकेतु! जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं में विलास करता हुआ यह जीवात्मा अपने ही अज्ञान-जन्य संकल्पों (ख़यालों) से विविध शरीरों वा नाना देहों को धारण कर लेता है, और अपने ही ख़याल वा संकल्प से विविध शरीरों को त्याग कर देता है। इससे सिद्ध होता है कि ये पाँच भूत और भौतिक शरीर व देह उसके निज स्वरूप में विद्यमान वा प्रविष्ट नहीं और न वह उनमें बद्ध है, बल्कि वह स्वतंत्र वा स्वाधीन, मुक्त व संतुष्ट है।

(३२६) हे भगवन्! यह शरीर तो इस से जुदा नहीं हो सकता, वह किस प्रकार इस को त्याग करता है और किस प्रकार इसको धारण करता है। यह भी प्रमाण के साथ वर्णन करो।

(३२७) ऐ श्वेतकेतु! पहले हमने जाग्रत्, स्वप्न,

सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ इसकी अन्तःकरण के द्वारा कल्पित कथन की हैं, अब इनसे अतिरिक्त मरण-अवस्था और भी है। वह जन्म-मरण अवस्था भी इस में कल्पित होती है, और उन अवस्थाओं में शरीरों व देहों का त्याग और ग्रहण भली भाँति सिद्ध होता है।

(३२८) ऐ श्वेतकेतु ! जब यह जीवात्मा मरणावस्था के निकट होता है, उस समय यह जीव अपने पहले जन्म व जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्मों की चर्चा करता है, और उस समय उसको शोक और पश्चाताप का अवसर होता है, और ख़याल के भीतर ही भीतर यह शोक और पश्चाताप होता है।

(३२९) इधर तो यह अपने भीतर में भीतरी कपाट खुल जाने के कारण अपने कर्मों का अध्ययन करता शोक पश्चाताप से युक्त होता है, और उधर उसके सम्बन्धी और कुटुम्बी उसको अचेत (बेहोश) समझ कर कड़ी धरती पर लिटा देते हैं, और सब निकटवर्ती तथा पड़ोसी दौड़-दौड़ कर उसको चारों ओर घेर लेते हैं, और यह जीवात्मा देखने में हिचकी तंग श्वास लेता हुआ दोनों आँखों को आकाश की ओर खोल देता है, और मुख तथा ओष्ठों पर फेन और कफ निकल आती है। और कफ की गुत्थी कण्ठ में फँसी हुई ख़ुर-ख़ुर शब्द करती हुई श्वास तोड़ने वा मृत्यु की सामीप्यता का समय सिद्ध करती है।

(३३०) उसके सम्बन्धी उस समय पुकार-पुकार उससे बोला करते है कि ऐ अमुक ! मैं तेरा भाई हूँ और मुझ को तुम बड़ा प्यारा समझते थे, और मेरे सिवा एक दम भी कोई काम नहीं करते थे, मुझ से एकबार अन्तिम बात चीत तो कर लो। वैसे ही स्त्री सिर पर रोती हुई बोलती है, प्रियतम ! मुझको किसके सहारे छोड़े जाते हो, मैं आप के बिना क्या करूँगी,

तुम्हारे बिना मेरा कोई काम नहीं, मुझे भी अपने साथ ही ले चलो, मुझे अकेला छोड़ कर जाना उचित नहीं, और इधर माता अपनी छाती पीटती और 'हाय'! 'हाय'!! शब्द से बिलाप करती छाती पर गिर जाती है, और प्रेम से आलिंगन करती क्रन्दन करती है। वैसे ही बहन-भौजाई अपने बाल खोल-खोल कर सर के बालों को नोच नोच कर छातियों को लाल कर लेती हैं, किन्तु यह जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में अपने शुभा-शुभ कर्मों के अध्ययन में लगा हुआ और शोकातुर हुआ कुछ बात ही नहीं सुनता। और वैद्यगण उसके कण्ठ में रत्न भस्म और द्राक्षा-केशर मिला कर शक्ति के लिये देते हैं, और पण्डित लोग गंगाजल और तुलसीदल मिला कर बूँद-बूँद कँठ में डालते हैं, और प्रायः वयोवृद्ध सिरहाने गीता और विष्णुसहस्रनाम का पाठ आरम्भ करते हैं, और पुत्र अपनी जंघा तकिया की भाँति उसके शिर के नीचे देता है, और छोटे बच्चे अन्न का ढेर लगा कर दीवा जला कर रख देते हैं, और यदि धनवान् होता है, तो गौवें भी संकल्प के लिये उपस्थित करते हैं, और नक़द और अशर्फ़ियाँ भी अर्घ्य-पात्र में डालकर उसके साथ में रखकर संकल्प करते हैं, किन्तु वह सूक्ष्म शरीर के अध्ययन में लगा हुआ कुछ भी नहीं जानता।

(३३१) ऐ श्वेतकेतु ! इधर इस प्रकार की व्याकुलता और बर्ताव तो उसके सम्बन्धी और कुटुम्बियों में होता है किन्तु उधर मृत्यु निकट जीवात्मा का यह हाल होता है कि वाक् इन्द्रिय तो सब ज्ञानेन्द्रियों के सहित अपने-अपने स्थानों को छोड़-छोड़कर अपने उपादान कारण रूप अन्तःकरण में लय हो जाती हैं, और फिर अन्तःकरण की ज्ञान शक्ति (मन, बुद्धि,

चित्त, अहंकार) प्राण में लय हो जाती है, और कुछ मिनट तक प्राण की गति के कारण नाड़ी और फेफड़ा गतिशील रहता है, अन्ततः प्राण की भी गति-शक्ति अपने उपादान कारण रूप महाभूतों में लय हो जाती है। इस तरह महाभूतों में स्थित हुआ जीवात्मा सुषुप्ति के अनुसार वासनारूप से विद्यमान उसी प्रकार परमात्मदेव से अभेदता प्राप्त करता है, जैसा कि सुषुप्ति अवस्था में करता है।

(३३२) ऐ श्वेतकेतु ! सुषुप्ति अवस्था और मृत्यु अवस्था में केवल वासना मात्र आवरण से बँधा हुआ यह जीव सत् से अभेद होता है, इसलिऐ उन्हीं वासना द्वारा पुनरावृत्त हुआ जन्म और नवीन शरीर को धारण करता है, और जन्म-मरण संसार को प्राप्त होता है। इस तरह यह जीवात्मा बारम्बार जन्म-मरण अवस्था में शरीरों का त्याग और ग्रहण कर लेता है, इसलिये ये सब देह उसकी वास्तविक सत्ता नहीं, बल्कि वास्तविक सत्ता उसकी वही परमात्मा है जिसमें वह सुषुप्ति और मृत्यु में एकता प्राप्त करता है, और यह शरीर तथा शरीरत्व उसमें आरोपित और कल्पित है।

(३३३) ऐ श्वेतकेतु ! जो सत्वस्तु सुषुप्ति और मृत्यु के समय इस जीवात्मा के लय का अधिष्ठान है, और जो सत्-वस्तु जीव-रूप करके इस भौतिक देह (रूप) में प्रकट हुई है, और जो सत्वस्तु आरम्भ सृष्टि में कारण रूप से भूतों और भौतिक पदार्थों में प्रवेश हुई है, वह सत् वस्तु ही तुम्हारा अपना आप या आत्मा है, तुम से भिन्न नहीं।

(३३४) ऐ श्वेतकेतु ! जो सत् वस्तु तुम्हारा आत्मारूप है, वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है, और काल, आकाश तथा भूत (देश, काल, वस्तु) से भी महतोमहीयान (महान से

भी महान) है । और जिस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्पाकृति, डँडा और हार दिखाई देते हैं, इसी तरह पँच भूत और भौतिक पदार्थ भी उसी सत् वस्तु में कल्पित दिखाई देते हैं । और जिस प्रकार वह कल्पित सर्प, डंडा, व हार ठीक रज्जु ही हैं, वैसे यह पँच भूत और भौतिक पदार्थ भी ठीक उसी के तद्रूप हैं, और यह सब सत् वस्तु ही का वस्तुतः स्वरूप है ।

(३३५) ऐ श्वेतकेतु ! वह समस्त संसार का अधिष्ठान या उपादान कारण रूप परमात्मदेव तुम्हारे वास्तविक स्वरूप से भिन्न नहीं है, वरन् वह तुम ही हो । यह शरीर और शरीरत्व तुम नहीं हो ।

(३३६) ऐ श्वेतकेतु ! जो आत्मदेव बुद्धि और अन्तःकरण का भी साक्षी है, वह फिर उन में केन्द्रित हुआ साक्षी है, और सर्वत्र विद्यमान है, और प्रत्येक में विद्यमान है, और प्रत्येक का तद्रूप है । और जो आत्मा द्वैत से रहित होने के कारण परमानन्द स्वरूप है और सन्तुष्ट है, और जो आत्मदेव समस्त जड़ वस्तुओं का प्रकाश होने से स्व-प्रकाश है, वह आत्मदेव ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है । इसी कारण तुम कर्ता भी नहीं हो, तुम भोक्ता भी नहीं हो, और तुम ज्ञाता वा संसार (अथवा भोग्य) भी नहीं हो ।

(३३७) ऐ श्वेतकेतु ! तुम प्रिय पुत्र को जो हमने उपदेश किया है; अपनी अत्यन्त प्रीति के कारण गुह्य रहस्य को बतलाया है । और यह वेदों में सर्वोत्तम गुह्यरूप दिव्य रत्न है, और यह प्रत्येक पण्डित को मालूम नहीं है, और साथ ही इसके यह उपदेश तुम्हारे अहंकार को भी दूर करता है, इसलिये तुम्हारे अनुशासन वा अनुबोधन के लिये तुम्हें उपदेश किया है ।

(३३८) ऐ श्वेतकेतु ! जिस परमात्मा अन्तर्यामी का तुम

को हमने उपदेश दिया है, उसी परमात्मा के सुनने से नासुने सुने और नाजाने जाने और अनसोचे सोचे जाते हैं।

(प्रयोजन) नम्बर ३३५ में जो ऋषिजी ने "तत्त्वमसि" (वह तुम ही हो) कहा है, यही महावाक्य है। इसी के श्रवण से आत्म-साक्षात्कार होता है।

(प्रयोजन) इस महावाक्य में तीन शब्द हैं। एक शब्द तो 'तत्' है जो सर्वनाम अन्य पुरुष का है, और दूसरा शब्द "त्वम्" है जो सर्वनाम मध्यम पुरुष का है, और तीसरा शब्द 'असि' है जो संगति का है। इन्हीं को संस्कृत में तत्-पद और त्वम्-पद भी कहते हैं। और नम्बर ७६ से ८१ तथा नम्बर १६२ में जो सत् की विवेचना की गई, है उस से सत् का ज्ञान वा अनुभव परोऽक्ष वस्तु के समान होता है, इसलिये वह समस्त अर्थ इस महावाक्य के 'तत्' से अभिप्रेत होते हैं। और जिस प्रकार ऋषिजी ने तर्क और अन्वेषण के साथ उसको सिद्ध किया है, इस सिद्ध करने को 'तत्' पद शोधन बोला करते हैं। और नं० १६३ से १७१ तथा नं० २२१ में जो विवेचना की है, उससे सत् का अनुभव प्रत्यक्ष वा अपरोऽक्ष वस्तु की भाँति होता है, इसलिये वह सब अर्थ इस महावाक्य के 'त्वम्, पद से अभिप्रेत होते हैं। और जिस प्रकार ऋषिजी ने युक्ति और विवेचना से उसको सिद्ध किया है, इस युक्ति को त्वम्-पदशोधन कहा करते हैं। और जब उन सब परोऽक्ष अर्थों की अपरोऽक्ष अर्थों के साथ एकता की जाती है और आत्म-साक्षात्कार का फल प्राप्त होता है, उस समय सम्बन्धकारक शब्द देकर गुरु उनकी अभेदता करता है। इसीको 'महावाक्य' का श्रवण बोला करते हैं।

(प्रयोजन) यह कुछ आवश्यक नहीं कि तत्पदशोधन

और त्वम् पदशोधन में यही शब्द और यही उपदेश गुरु के लिये ज़रूरी हैं जो ऋषिजी ने कहे हैं, बल्कि यह पूर्ण गुरुदेव की इच्छा पर नितान्त निर्भर है कि वह शिष्य की समझने की योग्यता के अनुसार उपाय व शैली से वर्णन करे, जिससे उसको परमात्मा की महत्ता और निकटता का बोध हो जाय। अतः तत्पदशोधन से शिष्य की नास्तिकता का अन्धकार आवरण दूर होता है, और उसे आस्तिकता का निश्चय वा विश्वास प्राप्त होता है। और 'त्वम्' पदशोधन से शिष्य के भीतरी अज्ञान रूपी अन्धकार का आवरण दूर होता है। और आत्म-साक्षात्कार की समीपता वा निकटता प्राप्त होती है। और जब इस उचित अवसर पर महावाक्य सुनाया जाता है, तो सत् की अहन्ता का श्रोता की अहन्ता में एकता के साथ साक्षात्कार होता है, और उससे अपने आप 'अहंब्रह्मास्मि' का निश्चय उत्पन्न होता है।

(प्रयोजन) वेदान्तविदों का कथन यह है कि जिस समय पूर्वोक्त नियमानुसार गुरु से शिष्य महावाक्य का श्रवण करता है, उसी समय सत् का अनुभव हो जाता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अहंब्रह्मास्मि का निश्चय भी उसी समय उत्पन्न हो जाय, बल्कि यह परिणाम शिष्य के अन्तःकरण की शुद्धि और निर्मल बुद्धि पर निर्भर है ; क्योंकि मिथ्या विश्वासों और अन्तर्मलिनता के कारण वह गुरुदेव के वाक्यों पर श्रद्धा वा निश्चय नहीं करता, इसी कारण उसमें पूर्वोक्त निश्चय उत्पन्न नहीं होता, और जब तक यह निश्चय उत्पन्न नहीं होता, तब तक मुक्तिफल उत्पन्न नहीं होता। इसी कारण पूर्ण गुरु को चाहिए कि शिक्षा-काल में उसके प्रश्नोत्तर में उपर्युक्त निश्चय के बाधक आवरणों

का अनुसन्धान करता रहे, और फिर ऐसे ढंग और वाक्यों द्वारा तत्पद् और त्वम्पद् का शोधन करे जिससे साक्षात्कार के मार्ग में बाधा डालने वाले आवरण दूर होते रहें। और जब वह आवरण-निवारण की छान-बीन कर लें, फिर यथावसर महावाक्य का श्रवण करावे। अन्ततः उसमें पूर्वोक्त निश्चय उत्पन्न हो जाता है। उस समय फिर उसको श्रवण किये अर्थों में चिन्तवन (मनन) करने की आज्ञा दे, जिसमें दृढ़ता उत्पन्न हो। और जब वह दृढ़ता के पश्चात् सत् को सूर्य के समान साक्षात्कार करे, तब गुरु का अधिकार पूर्ण होता है।

(प्रयोजन) श्वेवकेतु को जब ऋषिजी ने उपर्युक्त नियम से, जिसका अनुवाद शुद्धता पूर्वक किया गया है, महावाक्य का श्रवण कराया, तो आठ सन्देहों के कारण जो कि साक्षात्कार के मार्ग में बाधा रूप आवरण हुए, उक्त फल का निश्चय न हुआ, इस लिये ऋषिजी ने उसके प्रश्नों के अनुसार उन बाधाओं की विवेचना जाँच-पड़ताल करके आठ बार ऐसी शैली और विधि से तत्पद् और त्वम्पद् का शोधन किया जिससे प्रत्येक उपदेश में उसका आवरण निवृत्त होता रहा। अन्त में नवीं बार में पूर्वोक्त फल का निश्चय उसमें प्राप्त हुआ। इस प्रकार बारबार देर तक नौ बार महावाक्य को सुनाया। और हम उन प्रश्नों को, जो श्वेतकेतु ने किए, और उनके उत्तर जो ऋषिजी ने दिए, संक्षेप से अनुवाद करते हैं। पाठकगण इसकी व्याख्या या युक्तियाँ उसी प्रकार जान लें, जैसा कि ऊपर पहली बार में वर्णन की गई हैं। और सूफी महोदय इस तत्पद् शोधन को "सैरे-आफ़ाक़ी" और त्वम्पद् शोधन को सैरे-अनफ़सी कहा करते हैं, किन्तु वह शूली द्वारा मारे जाने के भय के कारण स्पष्ट-रूप से महावाक्य का श्रवण पुस्तकों

में नहीं लिखते थे ; हाँ गुप्त रीति से पट शिष्य को सुनाते थे, और सैरे-आफ़ाक़ी व सैरे-अनफ़सी के रहस्य का संकेत पुस्तकों में लिखते भी थे।

(३३९) श्वेतकेतु ने जब अपने पिता से जीव और ईश्वर की अभेदता (अर्थात् अबूदियत-बंदा और अलूहियत-खुदा की वहदत) श्रवण की, तो आठ सन्देहों के आवरण के कारण उसे आत्मदर्शन रूप फल प्राप्त न हुआ, और ऋषिजी ने उसके प्रश्नों के अनुसार साक्षात्कार के आवरण और रुकावटों की विवेचना करके नौ प्रकार से तत्पद और त्वम्पद का शोधन कर दिखाया और प्रत्येक शोधन से महावाक्य का श्रवण कराया, जिसके बाद नवें बार उसमें आत्म-दर्शन वा आत्म-साक्षात्कार हुआ। उन आठों प्रश्नों का संक्षेप पूर्वक अनुवाद नीचे दिया जाता है—

(१) हे भगवन्! आपने तत्पद शोधन में कहा है कि सुषुप्ति अवस्था में और मृत्यु में समस्त जीव सत् से अभेद होते हैं, किन्तु जब सुषुप्ति और मृत्यु में यह जीव सत् से अभेद होता है, तो वह उस समय सत् से अभेदता का निश्चय क्यों नहीं करता है? हमको यह बात प्रत्यक्ष मालूम होती है कि जब संसार में प्रेम-पात्र का मिलाप होता है, तो प्रेमी मिलाप के समय मिलाप का निश्चय करता है। और इस हेतु कि सुषुप्ति में या मृत्यु में सत् के मिलाप का निश्चय नहीं होता, इसलिये वस्तुतः सत का मिलाप भी नहीं होता।

(२) जब कोई मिलाप करने वाला मिलाप के पश्चात् जुदाई पाता है, तो जुदाई के समय मिलाप का चर्चा करता है, और इस हेतु कि सुषुप्ति से उठा मनुष्य जाग्रत में सत के मिलाप का चर्चा नहीं करता, इससे ज्ञात होता है कि वह सत से मिलाप भी नहीं पाता।

(३) सुषुप्ति और मृत्यु में सत् का मिलाप नदी और नाले के तद्वत् है जो समुद्र में जा मिलते हैं। और जैसे नदी और नाले के मिलाप में मिलनेवाले और मिले हुए का विवेक नहीं रहता, वैसे ही वहाँ भी विवेक नहीं रहता, यह कथन आपका इस बात की युक्ति उपस्थित करता है कि जैसे नदी और नाले समुद्र में लय होते है और समुद्र से मिल जाते हैं, वही हाल जीवों का निद्रा और मृत्यु में होता है, तो फिर इनको जागृत होना या नवीन जन्म पाना कठिन होगा। क्योंकि जो बूँद नदी में डाला जाता है, फिर उस बूँद का नदी में से उसी व्यक्तित्त्व से हू-बहू निकालना या खारिज होना कठिन होता है।

(४) हे भगवन् ! यह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल वस्तु आपने वर्णन किया है, जिससे बढ़कर कोई सूक्ष्म या कोमल वस्तु नहीं है। ऐसा सूक्ष्म तत्त्व इस स्थूल संसार का अधिष्ठान कैसे हो सकता है ?

(५) हे भगवन् ! आपने कहा है कि चाह (जिज्ञासा) और लगन से ही यह आत्मा प्राप्त होता है, और यह भी कहा है कि ज्ञान होने के पूर्व दिखाई नहीं देता। अतः उसका साक्षात्कार नहीं होता।

(६) हे भगवन् ! साक्षात्कार प्रायः प्रत्यक्ष पदार्थों का ही होता है, अप्रत्यक्ष का नहीं होता, और आत्मा अप्रत्यक्ष है, फिर उसका साक्षात्कार किस प्रकार हो ?

(७) हे भगवन् ! यदि अज्ञानी मनुष्य के इन्द्रिय और अन्तःकरण मृत्यु-काल में वासना रूप से विद्यमान रहते हैं, इस कारण वह फिर जन्म लेता है और पुनरावर्तित होताहै, तो आत्मदर्शी के इन्द्रिय और अन्तःकरण भी वासना रूप से

नष्ट नहीं होते होंगे, और उसको भी शारीरिक और मानसिक पुनरावर्तित होना चाहिए। क्या कारण है कि फिर उसका पुनरावर्तन नहीं होता, वरन् वह मुक्त हो जाता है।

(८) हे भगवन्! यदि ज्ञानी के इन्द्रिय और अन्तःकरण वासना रूप से नष्ट होते हैं, तो मूर्ख के इन्द्रिय और अन्तः-करण वासना रूप से क्यों नहीं नष्ट हो जाते, इसका क्या मुख्य कारण है ?

(३४०) ऐ प्यारो ! इस प्रकार श्वेतकेतु ने आठ वार सन्देह किया और ऋषिजी भी तत्परतापूर्वक आठ वार नए सिरेसे तत्पदशोधन का वर्णन करते थे और उत्तर देते थे। अब उन उत्तरों का नम्बरवार अनुवाद संक्षेप से हम करते हैं।

१—ऐ श्वेतकेतु ! जैसे कि मधुमक्षिका नाना पुष्पों के सार को लाकर अपने छत्ते (घर) में उसको शहद बना लेती है, और इस शहद में भिन्न-भिन्न जगह के सार अपनी-अपनी विविध व्यक्तित्त्व वा असलियत का विवेक नहीं पाते ; वैसे ही सुषुप्ति में यह जीव सुषुप्ति-अवस्था में प्राप्त होते हुए अपने मिलाप और व्यक्तित्त्व का विवेक नहीं पाते हैं।

यहाँ मधु का निश्चय क्षणिक वा तत्कालिक निश्चय जान लेना, वाचक नहीं जानना। क्योंकि वह जड़ वस्तु वाचक निश्चय के योग्य नहीं, तो भी तत्कालिक निश्चय जड़ में भी बुद्धिमानों के निकट स्वतः सिद्ध है।

आपत्ति—हे भगवन् ! यदि जीवों का मेल नींद या सुषुप्ति में ऐसा होता है जैसा कि विविध फूलों के रसों का मधु में होता है, तो फिर जीवों का उसी रूप में पुनरावर्तन जाग्रत् में कठिन होगा, जैसा कि मधु से फिर उन भिन्न-भिन्न पुष्प-रसों का पुनरावर्तन वा पृथककरण नहीं होता।

२—ऐ श्वेतकेतु ! यद्यपि जीवों का सम्मिश्रण सुपुप्ति में वैसा ही होता है जैसा कि मधु में पुष्पों के विविध रसों का होता है, किन्तु जीव जो सुपुप्ति में परमात्मा से मिलाप पाते हैं, अपनी-अपनी वासना रूपी आकृति और अहंता से परमात्मा के साथ मिलाप पाते और सुपुप्ति में प्रविष्ट होते हैं, इस कारण मधु के विरुद्ध फिर जाग्रत में अपनी असली आकृति और अहंता पर उनका पुनरावर्तन होता है; और पुष्प-रसों में यह विशेष बन्धन पुनरावर्तन का कारण नहीं है, इसलिये वह फिर अपने असली वा पहले रूप में पुनरावर्तन नहीं करते। और जीवों का जो पुनरावर्तन इस वासना के कारण होता है, उसकी साक्षी पृथ्वी के जीव-जन्तुओं में भली भाँति मिलती है, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु (या तपश के दिनों) में जब भूमि के जीव जन्तु धरती वा पृथ्वी में मिल जाते हैं और पृथ्वी-रूप हो जाते हैं, तो फिर वर्षा ऋतु में उसी आकृति पर अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं।

३—ऐ श्वेतकेतु ! जैसेकि नदी और नाले समुद्र में जा मिलते हैं और समुद्र रूप हो जाते हैं, और फिर वाष्प होने की विधि से बादल होकर बरसते हैं और नदी नाला रूप हो जाते हैं, और यह निश्चय नहीं करते कि हम समुद्र से मिलाप पाकर आये हैं, वैसेही यह जीव सुषुप्ति अवस्था से निकलते परमात्म मिलाप का निश्चय या चर्चा पाते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि सुषुप्ति काल के मिलाप में मूल-अज्ञान और तत्कालिक वा तूल-अज्ञान भी होता है, यद्यपि जाग्रति में तूल-अज्ञान जाता रहता है, किन्तु मूल-अज्ञान आत्मानुभव के बिना दूर नहीं होता, इस लिये जाग्रत में जो वियोग है, उससे मिलाप-चर्चा भी नहीं करते।

४—ऐ श्वेतकेतु ! जीव जब सुषुप्ति या मृत्यु में होता है, तो परमात्मा से अभेद हुआ विलीन नहीं हो जाता यदि वह विलीन हो जाता, तो फिर उसका जाग्रत् में पुनः आना भी न होता ! इस हेतु कि वह पुनः आया होता है अतएव विलीन भी नहीं होता। विवेक-दृष्टि से यदि देखिये तो जीव नाश-योग्य नहीं है, वरन् जिस-जिस वस्तु का जीव त्याग करता है, वही-वही वस्तु नष्ट होती है। और जिस-जिस वस्तु को वह ग्रहण करता है वही-वही वस्तु प्रफुल्लित और जीवित होती है। देखिये,वृक्ष में जिस-जिस शाखा या पत्ती का जीव त्याग करता है, वही-वही शाखा वा पत्ती सूख कर नाशमान हो जाती है और शरीर में भी लक़वा या पक्षाघात के समय शरीर के अर्ध भाग को यह जीव त्याग देता है, तो वह आधा भाग मुर्दा (निर्जीव) सा हो जाता है, और जब उसी को फिर वह ग्रहण करता और उस में अभिमान करता है, तो प्रफुल्लित और जीवित होता है।

आपत्ति—हे भगवन् ! हम यह कल्पना करलेंगे कि जीव नाश हो जाता है और दूसरा जीव शाखा, पत्ती, वृक्ष में व्याप्त होकर फिर उसको प्रफुल्लित कर लेता है, तो इस प्रकार से भी यह बात सिद्ध हो सकती है, और इस तर्क वा युक्ति से यह आवश्यक नहीं हो जाता कि जीव नाशमान नहीं।

उत्तर—ऐ श्वेतकेतु ! यदि यह मान लिया जायगा कि कोई भी वस्तु नाशमान नहीं होगी, क्योंकि जब किसी वस्तु को जीव तर्क करेगा, दूसरा जीव उसको ग्रहण कर लेगा। तो यह अनुभव के विरुद्ध है। क्योंकि वस्तुएँ नाश होती हुई हम प्रत्यक्ष देखते हैं, यदि लक़वा में जब देह के दूसरे भाग में निरोगता होती है तो वही जीव आधे शरीर को व्याप्त

होता उसमें अभिमान करता है। यदि दूसरा जीव आधे में व्याप्त हो उसमें अपना अभिमान वा स्वत्व रक्खे तो विग्रह का कारण हो जाय, जैसे कि एक राज्य में दो राजाओं का क़ब्ज़ा विग्रह का कारण होता है। और सुषुप्ति में यदि प्रथम जीव के विनाश और जाग्रत् में दूसरे जीव की व्याप्ति स्वीकार कर ले तो फिर पहली जाग्रत् के अनुभवों की चर्चा कठिन होगी ; और इस हेतु कि पहली जाग्रत् की चर्चा अनुभव सिद्ध है, वही जीव पुनरावृत्त होता है, दूसरा नहीं आवृत होता। और इसके अतिरिक्त जाग्रत में जागता हुआ ऐसा निश्चय करता है कि जो मैं पहले जागता था और फिर सुषुप्ति में हो गया था, अब फिर वही मैं जागता हूँ। यदि जाग्रत में दूसरा ही जीव आवृत्त होता, तो यह निश्चय न होता। जबकि सिद्ध हुआ कि एक शरीर वा देह पूर्व जन्म के कर्मों के विशेष संस्कारों के सम्बन्ध के कारण अकेले जीव के ही ग्रहण और त्याग के योग्य है, अन्य जीव के अधिकार वा अभिमान के योग्य नहीं इसी लिए जब प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों की समाप्ति होने लगती है, तब वह जीव पूर्ण-रूप से शरीरों का त्याग करता है, तो फिर वह शरीर नाश हो जाता है, प्रफुल्लित या जीवित नहीं होता।

ऐ श्वेतकेतु! जिस प्रकार सुषुप्ति में वह नाश नहीं होता, सत् से अभेदता प्राप्त करता फिर जाग्रत में वियोग प्राप्त करता है, और शरीर अभेद वा अभिमानी होता है; इसी प्रकार मृत्यु में भी वह नाश नहीं होता, सत से अभेद होता है, और कुछ काल पश्चात् वह फिर पृथक होता, नवीन शरीरों में सम्बन्धित होता है, और पहले जन्म के कर्मों और संस्कारों का फल प्राप्त करता है। यद्यपि मृत्यु के

पश्चात वह नवीन शरीर को धारण करता है, किन्तु जीव वही होता है। यदि वही जीव न हो, तो न किये हुए कर्मों के फलों की उत्पत्ति वा प्राप्ति और किए हुए कर्मों का फलों का नाश जरूरी हो जायगा। और परमात्मदेव में उस समय अत्याचार या ईर्षा वा सूमपन (कृपणता) को स्वीकार करना होगा। तात्पर्य ऋषीजी का यह है कि यदि जीव को पुरातन या सनातन मान लिया जायगा, तो पाप और पुण्य, पुरस्कार और दण्ड, बन्ध और मोक्ष का विधान स्थिर रहेगा, अन्यथा समस्त शास्त्र और धर्म्म मि या हो जाँयगे। इसलिये सुषुप्ति या मृत्यु में जीव नाश नहीं होता, सत को प्राप्त होता ठीक सतस्वरूप होता है, और अविनाशी होता है।

५—ऐ श्वेतकेतु! जैसे वृक्ष का बीज वृक्ष की दृष्टि से सूक्ष्म है, और सूक्ष्मता के गुण से युक्त वही बीज वृक्ष का आदि और अधिष्ठान होता है। उसी तरह यद्यपि आत्मा सूक्ष्म और अणु है, तो भी संसार का आदिकारण और अधिष्ठान है। देखो, पीपल का बीज सूक्ष्म और अणु होता है, तो भी उसमें पीपल का वृक्ष पहिले संकुचित रूप विद्यमान होता है, और इस संकुचित अवस्था में उसमें शाखे और पत्ते दिखाई नहीं देते, और जब वह संकुचित अवस्था से विकसित अवस्था में हो जाता है, तो शाखें, पत्ते और तना भी भारी-भारी दिखाई देते है। और यह सिद्ध हुआ है कि कोई भी वस्तु असत् वा नास्ति से अस्तित्व में नही आती, इसीलिये वह प्रकट वा स्पष्ट होने से पूर्व संकुचित अवस्था मे सूक्ष्म-रूप से विद्यमान होता है। इसी तरह सृष्टि के आरम्भ में यह आत्मा माया ही से समावृत था और उसमें संकुचित रूप से संसार उसी प्रकार विद्यमान था, जिस प्रकार बीज में वृक्ष

विद्यमान था, और फिर वह संसार उसमें उसी प्रकार विकसित होता है जैसा कि बीज से वृक्ष विकसित होता है। और वह परमात्मा उसमें उसी प्रकार संसार को दिखाई नहीं देता, वरन् वही उसको देखते हैं, जिसको श्रुति भगवती ऐसे दिखाती है कि पहले सत् ही था और अब भी सत् ही है और फिर भी सत् ही होगा।

६—ऐ श्वेतकेतु ! यद्यपि यह आत्मा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं, इस कारण आँख से दिखाई नहीं देता; तो भी वह अपने स्वरूप में दृष्टि-रूप है. इसलिये वह सम्वृत और अज्ञात भी नहीं। किन्तु जिस प्रकार पानी में गला हुआ नमक आँख से नहीं दिखाई देता, वरन् स्वाद रसना से दिखाई देता है, उसी तरह यह दृष्टि-स्वरूप आत्मा जो इस चर्म-चक्षु से नहीं भी दिखाई देता, तो भी शास्त्र और वेद के नेत्र से दिखाई देता है। अतः जो लोग शास्त्र व वेद पर भरोसा करके शास्त्र विधान के अनुसार तत्पद और त्वम्पद श्रवण करते हैं, जैसाकि ऊपर कहा है, वह लोग इसको प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इसलिये इसमें भक्ति, लगन व प्रेम का बाध वा अभाव नहीं हो सकता; वरन् इसमें भक्ति, लगन, प्रेम, और जिज्ञासा सबकी अपेक्षा अति तीव्र होती है।

७—ऐ श्वेतकेतु ! यह नहीं मान लेना चाहिए कि प्रत्यक्ष का ही अनुभव होता है, अप्रत्यक्ष का साक्षात् किस प्रकार हो। क्योंकि बहुत वस्तुएँ अप्रत्यक्ष है किन्तु उनका अनुभव वा साक्षात् होता है। देखो, भूख-प्यास, क्रोध और काम जितनी मानवी अवस्थाएँ हैं, सब अप्रत्यक्ष है, तो भी उनका अनुभव होता है, क्योंकि मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ. मैं क्रोध में हूँ, मैं कृपालु हूँ, इस प्रकार का निश्चय अन्तःकरण की

शान्ति अवस्था के समय मनुष्य करता है। परन्तु वस्तु का प्रत्यक्षीकरण वरन् साक्षात्कार नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि अप्रत्यक्ष वस्तुओं का भी अनुभव होता है। और आत्मा यद्यपि अप्रत्यक्ष है, तो भी उसका अनुभव हो सकता है। और साक्षात्कार से पूर्व जो उसका अनुभव नहीं होता, उसमें भी काम क्रोध आदि अन्तःकरण की अवस्थाएँ ही बाधक हैं। इन काम क्रोधादि अवस्थाओं के कारण मनुष्य की अवस्था हो रही है, जैसा कि किसी गांधार देशीय व्यक्ति को लुटेरों ने आँखें बन्द करके किसी भयानक वन या कटीले स्थान में फेंक दिया हो। यह प्रकट है कि उस व्यक्ति की कैसी दशा होगी। वैसा ही इस जीव की दशा इन काम-क्रोध आदि लुटेरों ने कर रक्खी है, और उसकी साक्षी रूप आँख की दृष्टि अज्ञान के द्वारा बंद कर दी हुई है, और अपने आत्मरूप प्रदेश (निजधाम) से पृथक् करके घनरूप वन या कटीले स्थान में फेंक दिया है। और इस हेतु कि इन लुटेरों ने उसकी बुद्धि व आँख को दृढ़ता से और अविद्या से बंद कर दिया है, इस कारण वह अपने आप इस भयानक बन से निकल नहीं सकता और न वह अपने देश (निजधाम) का मार्ग ही जान सकता है। फिर जैसा कोई पूर्ण नेता अपनी कृपा से पहले उस गांधारी की आँखें खोल दे और फिर उसके हाथ-पाँव खोल कर मार्ग बता दे कि यह सड़क गाँधार में पहुँचती है, इसी पर चला जा, और वह उसकी आज्ञा और आदेश के अनुसार विश्वास करके सड़क पर चलता रहे, तो गाँधार पहुँच जाता है, वैसा ही पूर्ण गुरु जब भाग्य से उसको मिलता है, तो पहले व्रत और तप से उसकी काम-क्रोध की शक्ति को जीर्ण (शिथिल) कर देता है, और फिर तत्पदसाधन और त्वम्पद शोधन से आत्मा के अज्ञान का नाश

करता है। निदान वह काम-क्रोध का शिथिल होना मानों हाथ पॉव के बन्धन खोलने के समान है, और यह अज्ञान का नाश मानों ऑख की पट्टी खोलने के समान है, और फिर उसको महा-वाक्य के श्रवण से अद्वैत ब्रह्म सिद्ध करता है, यह मानों गॉधार सड़क पर डाल देना है, इस प्रकार यह जीव पूर्ण गुरु की कृपा अपने निजधाम में प्राप्त हो सकता है, और आत्मसा-क्षात्कार हो सकता है।

८—ऐ श्वेतकेतु ! मृत्यु में जो इन्द्रियों और अन्तःकरण का व्यक्ति रूप से नाश कहा है, वासना रूप से नहीं कहा है, वह अज्ञानी के लिये विशेषता कहा है। आत्मज्ञानियों के इन्द्रिय और अन्तःकरण तो मृत्यु के समय व्यक्ति रूप से और वासना रूप से पूर्णतया नाश हो जाते है, इसी कारण आत्मदर्शियों को फिर शारीरिक और मानसिक पुनरावर्तन नहीं होता।

ऐ श्वेतकेतु ! अज्ञानी और आमत्मदर्शियों का विशेष अन्तर जो हमने वर्णन किया है, शास्त्र और वेद के आधार पर किया है, अन्यथा मानवी दृष्टि से दोनों की मृत्यु समान होती है, क्योंकि मृत्यु के समय अज्ञानी जब मरणप्राय होता है, तो उसके सम्बन्धी और कुटुम्बी उसको घेरकर उसको बुलाते-पुकारते हैं, और तब तक ही वह उनके पुकारने और रोने-धोने को सुनता है जब तक कि उसके इन्द्रिय और अन्तः-कारण नाश नहीं होते। और जब उसके इन्द्रिय और अन्तः-करण का नाश हो जाता है, फिर वह नहीं सुनता, वैसा ही ज्ञानी भी नहीं सुनता। इसी कारण मनुष्य की दृष्टि के अनुसार इन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों का एक समान व्यक्ति रूप नाश है, और मनुष्य उनमें कुछ अन्तर नहीं करता। इस हेतु कि आत्म-दर्शियों के अन्तःकरण व इन्द्रियों का नाश पूर्णतया होता है, और

वह प्रत्यक्ष दृष्टि में दिखाई नहीं देता, वह (मनुष्य) समान ही देखता है, किन्तु शास्त्र की दृष्टि में वासना रूप से (वस्तुतः) विनाश के ख़याल से महान् अन्तर है ।

६—ऐ श्वेतकेतु ! आत्मदर्शियों के इन्द्रिय और अन्तःकरण वासना रूप से नाश होते हैं, और अज्ञानी के नहीं होते । इसका कारण यह है कि अज्ञानी का आत्म-अज्ञान जो वास्तव में संसार का आदि मूल है, नाश नहीं हुआ होता । इसी कारण उसके अन्तःकरण और इन्द्रिय अज्ञान में लीन होते हैं, और ठीक अज्ञान रूप ही हो जाते हैं । और रूपों का पूर्णतया क्षीण (नाश) होना अज्ञान से कठिन है, इसी कारण फिर वह रूप प्रज्वलित होते अज्ञानी के जन्म के कारण हो जाते हैं । चूँकि अज्ञान का नाश ज्ञान से होता है, आत्मदर्शी का अज्ञान तो आत्मज्ञान की ज्योति से जीवन में ही दूर हो चुका होता है, और मृत्यु के शिशिर काल में जो इन्द्रिय और अन्तःकरण का अभाव होता है, आत्मा में, जो ज्योतियों की ज्योति है, होता है, और स्वप्न-जगत के रूपों का भी अभाव होता है, क्योंकि स्वप्न-संसार के रूपों का मुद्रण और रक्षण अन्तःकरण और अज्ञान में ही होना है । आत्मा तो स्वप्न-संसार के रूपों के मुद्रण और रक्षण से परे है । इस कारण उसको फिर पुनरावर्तन नहीं होता, और इसके अतिरिक्त अज्ञान का आवेश होने से मृत्यु काल में अज्ञानी अपने आत्मा और संसार से अचेत सुषुप्त अवस्था के समान हो जाता है, और आत्मदर्शी इसके विरुद्ध अज्ञान-विनाश के कारण अपने स्वरूप में दृष्टिरूप और ज्योतिरूप होता है, जैसा कि वह जीवन-काल में समाधि अवस्था में रहता है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है, जैसे कोई एक मिट्टी के क़ूजे में पानी भर कर और उसका मुँह बन्द करके नदी में फेंक दे और दूसरा

क़ूज़ा तोड़कर उसका पानी नदी में फेंक दे, तो स्पष्ट है कि जिस समय वह डूबा हुआ कूज़ा निकाला जायगा, तो उसमें वही पानी नदी से अलग हो सकता है जो पहले नदी से पृथक् था, और दूसरा पानी जो टूटे क़ूज़े से मिलाया गया है, यदि अलग करना चाहे तो उसी व्यक्ति रूप से अलग होना कठिन है ; वैसा ही अज्ञानी का सत् में डूबना जो मृत्यु में होता है, अज्ञान की उपाधि के कारण फिर पुनरावर्तित होता है, ज्ञानियों का पुनरावर्तन नहीं होता।

१०—ऐ प्यारो ! उस प्रकार अरुणी ऋषिने नौ बार पुनः पुनः शास्त्रीय विधि के अनुसार "तत्त्वमसि" (अर्थात् वह तुम ही हो) यह महावाक्य श्वेतकेतु को सुनाया। नवीं बार में संदेह दूर होने पर उसको साक्षात्कार हुआ। इससे सिद्ध हुआ कि तत्त्व-साक्षात्कार शिक्षा के रूप में महावाक्य का उपदेश और श्रवण ही कराता है, जैसाकि स्वामीजी ने अनुवादक को बार-बार श्रवण कराया। हाथ में हाथ पकड़ने से किसी गुरु ने कभी सत् का प्रकाश (तत्त्व-साक्षात्कार) नहीं दिखाया। यदि शिष्य हो जाने से ही आत्म-साक्षात्कार हो जाता, तो अरुणी ऋषि जी अपने पुत्र श्वेतकेतु को (शिष्य हो जाने से ही) आत्म-साक्षात्कार कराते, इस प्रकार नौ बार पुनः पुनः शिक्षा न देते।

आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह वेदी के अन्य ग्रन्थ

१—श्रीवेदानुवचन उर्दू का हिन्दी संस्करण। इस पुस्तक की प्रशंसा स्वामी रामतीर्थ ने स्वयं की थी। बहुत कुछ ज्ञान स्वामीजी ने इस पुस्तक द्वारा प्राप्त किया था। कर्मकाण्ड, ज्ञान-काण्ड, बन्ध व मोक्ष इन तीन स्तम्भों में वेदों का सार इस पुस्तक में बड़ी ही सरल भाषा में दिया है। धार्मिक पुरुषों के लिये यह ज्ञान की निसेनी कही जा सकती है।

आकार २०×३०=१६; पृष्ठ संख्या ५५०; मूल्य—विशेष संस्करण ४।।) साधारण संस्करण ३।।।) तथा बांटने का सस्ता संस्करण सजिल्द २)।

२—भगवत्ज्ञान के विचित्र रहस्य अर्थात् रिसाला अजायबुलइल्म का हिन्दी संस्करण—जिसमें ज्ञान सम्बन्धी ६ अमूल्य उपदेश छापे गये हैं। पृष्ठ संख्या १५०; मूल्य साधारण संस्करण ।।।) विशेष संस्करण १=)

३—जगजीत प्रज्ञा का हिन्दी ग्रन्थ जिसमें ईशावास उपनिषद का अनुवाद दिया गया है। यह पुस्तक प्रकाशित करने का यत्न किया जा रहा है।

परमहंस श्रीस्वामी रामतीर्थजी महाराज के हिन्दी ग्रन्थ

१—स्वामीरामतीर्थ के लेख व उपदेश जिल्द १ से ५; मूल्य प्रत्येक जिल्द विशेष संस्करण के २॥) साधारण संस्करण १॥)

२—रामवर्षा अर्थात् स्वामीजी के भजनों का संग्रह, जिल्द १ व २ मूल्य प्रत्येक जिल्द २॥)

३—रामपत्र जिसमें स्वामीजी के लिखे ११०० से अधिक पत्र दिये गये हैं। मूल्य विशेष संस्करण २।) साधारण संस्करण १॥)

४—भारत माता अर्थात् राष्ट्रीयता, देश-भक्ति एकता, समाजवाद आदि पर स्वामीजी की अमृतवाणी। मूल्य १॥)

५—जीवन चरित्र स्वामीराम जिसको उनके पट शिष्य श्रीमन्नारायणस्वामी ने स्वयम् लिखा है। मूल्य विशेष संस्करण ४॥) साधारण संस्करण ३॥।)

६—व्यवहारिक वेदान्त जिसमें धार्मिक सामाजिक राष्ट्रीय एवम् अन्तर राष्ट्रीय विषयों पर वेदान्त की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। पहले यह मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित किया गया था और अब दो जिल्दों में तय्यार किया गया है। पृष्ठ लगभग १०००, मूल्य दोनों जिल्द ३)

श्रीमन्नारायणस्वामी कृत

श्रीमद्भगवद्गीता की विस्तृत व्याख्या

इस टीका की विशेषता नीचे लिखी समालोचना से स्पष्ट हो जायगी।

'सरस्वती' का मत है कि 'स्वामीजी ने इस गीता संस्करण को अनेक प्रकार से अलंकृत करने की चेष्टा की है। पहले मूल, उसके बाद अन्वयांकानुसार प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है। इसके सिवा जगह-जगह पर टिप्पणियाँ दी गई हैं जो बहुत महत्त्व की हैं। बीच-बीच में जहाँ मूल का विषयान्तर होता दिखाई पड़ा है वहाँ सम्बन्धिनी व्याख्या लिखकर विषय का मेल मिला दिया गया है। स्वामीजी ने एक बात और भी की है। आपने प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका संक्षिप्त सार भी लिख दिया है। इससे साधारण लिखे-पढ़े लोगों का बहुत हित साधन हुआ है। मतलब यह कि क्या बहुज्ञ और क्या अल्पज्ञ दोनों के संतोष का साधन स्वामी जी के इस संस्करण में विद्यमान है। गीता का सरलार्थ व्यक्त करने में आपने कसर नहीं उठा रक्खी।"

पृष्ठ संख्या लगभग २४००।

टीका ३ खण्ड में विभक्त है। खण्ड १ में पहले ६ अध्याय, खण्ड २ में अध्याय ७ से १८ व खण्ड ३ में प्रस्तावना इत्यादि छपी हैं। आकार २०×३०=१६ मूल्य प्रति खण्ड ४॥)।